प्राक्कथन

स्वर्गीय श्रीमज्जैनाचार्य पूज्य श्री जवाहरलालजी म. सा. के प्रवचनों को जवाहर किरणावली के रूप मे प्रकाशित कर पाठकों की सत्साहित्य के पठन-पाठन की आकाक्षा-पूर्ति का प्रयास किया गया है।

इसी प्रयास-परम्परा में 'जामनगर के व्याख्यान' नामक यह तेईसवीं किरण पाठकों के समक्ष प्रस्तुत कर रहे हैं। यद्यपि इस किरण में पूज्य आचार्य श्रीजी के जामनगर चातुर्मास समय के उन सभी प्रवचनो को सकलित नही किया गया है जो उस समय पूज्य आचार्य श्रीजी म सा ने फरमाये थे। वे सभी प्रवचन आध्यात्मिक-विकास के लिये महत्वपूर्ण हैं और उनकी सार्वकालिक उपयोगिता भी है। लेकिन कार्यक्षमता की अपनी सीमा होने से उनमे से कुछ-एक प्रवचनो को इस तेईसवी किरण मे सकलित किया गया है। इन प्रकाशित प्रवचनो से पाठकगण अनुमान लगा लेवें कि अन्य प्रवचन भी इसी प्रकार महत्वपूर्ण और सर्वजनोपयोगी होगे।

आत्मिक विकास के प्रति व्यक्ति का लगाव जन्मजात है। इसके लिये व्यक्ति सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चारित्र की साधना के द्वारा प्रयत्न करता रहता है। ये प्रयत्न क्षणिक आवेश और प्रवृत्तियों से प्रभावित नहीं होते है, किन्तु उनमे त्रैकालिक अनुभवो और आत्मा की भावनाओ का समावेश रहता है।

अध्यात्म का विकास अध्यात्मज्ञानियो ने अपनी आचार-विचार-मूलक प्रवृत्तियो द्वारा किया है और दूसरों को अपने अनुभवो का सार समझाने का प्रयास किया है ।

पूज्य जवाहराचार्य इन अध्यात्म-विज्ञानियों मे सिरमौर हैं। आपश्री ने सरल सुबोध शैली मे मानव जीवन की सफलता का चित्रण करके जीवन जीने की कला सिखाई है। इसी कारण पूज्यश्री के प्रवचनो को पढ़ने के लिये जनसाधारण मे उत्साह देखा जाता है और उनकी प्रेरणा से पूर्व प्रकाशित किरणावलियो को पुन. प्रकाशित कर रहे हैं ।

पहले यह तेईसवी किरण श्री साधुमार्गी जैन जवाहर मडल मदसौर (म प्र) द्वारा प्रकाशित की गई थी । जिसके लिये मडल को धन्यवाद देते हैं। लेकिन पाठको की माग होने से यह द्वितीय सस्करण धर्मनिष्ठ सुश्राविका स्व. श्रीमती राजकुवर बाई के द्वारा जवाहर साहित्य प्रकाशन के लिये दी गई निधि में से प्रकाशित कर रहे हैं । स्वर्गीय श्रीमती राजकुवरबाई सरल, उदार एव धार्मिक आचार-विचारवान महिला थी । उनका जीवन धर्म-कर्म मे व्यतीत हुआ । एतदर्थ इस प्रसग पर उनका स्मरण करना एव उपकार मानना हम अपना परम कर्तव्य समझते हैं ।

पुस्तक के सुन्दर मुद्रण कार्य के लिये श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन सघ एव उसके द्वारा सचालित 'जैन आर्ट प्रेस' के कार्यकर्ताओ को समिति की ओर से धन्यवाद देते हैं ।

भीनासर
(बीकानेर, राजस्थान)

चपालाल बाठिया
मत्री—श्री जवाहर साहित्य समिति

जामनगर के व्याख्यान

अध्यात्म का विकास अध्यात्मज्ञानियो ने अपनी आचार-विचार-मूलक प्रवृत्तियो द्वारा किया है और दूसरो को अपने अनुभवो का सार समझाने का प्रयास किया है।

पूज्य जवाहराचार्य इन अध्यात्म-विज्ञानियो मे सिरमौर हैं। आपश्री ने सरल सुबोध शैली मे मानव जीवन की सफलता का चित्रण करके जीवन जीने की कला सिखाई है। इसी कारण पूज्यश्री के प्रवचनो को पढने के लिये जनसाधारण मे उत्साह देखा जाता है और उनकी प्रेरणा से पूर्व प्रकाशित किरणावलियो को पुनः प्रकाशित कर रहे हैं।

पहले यह तेईसवी किरण श्री साधुमार्गी जैन जवाहर मडल मदसौर (म. प्र) द्वारा प्रकाशित की गई थी। जिसके लिये मडल को धन्यवाद देते हैं। लेकिन पाठको की माग होने से यह द्वितीय सस्करण धर्मनिष्ठ सुश्राविका स्व. श्रीमती राजकुवर बाई के द्वारा जवाहर साहित्य प्रकाशन के लिये दी गई निधि मे से प्रकाशित कर रहे हैं। स्वर्गीय श्रीमती राजकुवरबाई सरल, उदार एवं धार्मिक आचार-विचारवान महिला थी। उनका जीवन धर्म-कर्म मे व्यतीत हुआ। एतदर्थं इस प्रसग पर उनका स्मरण करना एव उपकार मानना हम अपना परम कर्तव्य समझते हैं।

पुस्तक के सुन्दर मुद्रण कार्य के लिये श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन सघ एव उसके द्वारा सचालित 'जैन आर्ट प्रेस' के कार्यकर्ताओं को समिति की ओर से धन्यवाद देते हैं।

भीनासर (बीकानेर, राजस्थान)

चपालाल बांठिया
मत्री—श्री जवाहर साहित्य समिति

जामनगर के व्याख्यान

अनुक्रमणिका

आत्मा और परमात्मा

श्री सुबुद्धि जिनेश्वर वन्दिये रे, प्राणी।

परमात्मा की प्रार्थना करने का रहस्य गहरा है। उस रहस्य तक मनोभाव की पहुंच भी कठिनाई से ही होती है तो शब्दो की पहुच सरलता से कैसे हो सकती है ? फिर भी शब्दो का प्रयोग किये बिना काम नही चलता। ससार मे शब्दो को छोड कर और क्या साधन है कि कोई अपने मन के भावो को प्रकट करे ? अतएव इतना कहता हू कि आत्मा पर चढे हुवे आवरणो को हटाने के लिए ही परमात्मा की प्रार्थना की जाती है। आत्मा के मौलिक स्वरूप पर विचार करने से विदित होता है कि वास्तव मे आत्मा और परमात्मा के स्वरूप मे कुछ भी अन्तर नही है। जो अन्तर आज मालूम हो रहा है वह औपाधिक है। वह बाह्य कारणो से उत्पन्न हुआ है। वह बाह्य कारण आठ कर्म हैं। आठ कर्म आत्मा के वैरी हैं। उन्होने आत्मा के असली स्वरूप को ढँक दिया है। आत्मा को राजा से रक बना दिया है। साधारण लोग दूसरे व्यक्तियो को अपना वैरी समझते हैं मगर उन्हे वास्तविकता का पता नही है। जिसे वास्तविकता का भान हो

जाता है, उसके मन में तनिक भी सदेह नही रहता कि कर्म-आवरण के सिवाय आत्मा का शत्रु और कोई नही है। इन्ही वैरियो को हटाने के लिए ही परमात्मा की स्तुति की जाती है।

आत्मा के शत्रु परमात्मा की प्रार्थना करने से कैसे दूर भाग जाते हैं ? इस प्रश्न का समाधान यह है। शत्रु जब शक्तिशाली होता है और उसे पराजित करने का अपने मे सामर्थ्य नहीं होता तो किसी बड़े की शरण ली जाती है। महान् शक्तिशाली बड़े की सहायता लेने से जबर्दस्त शत्रु भाग जाते हैं। इस प्रकार जो काम यो नही होता वह बड़े की सहायता प्राप्त होने पर सरलता के साथ हो जाता है।

लोक व्यवहार मे अकसर ऐसा होता है। फिर भी पौराणिक उदाहरण देखना हो तो कौरवो और पाण्डवो का उदाहरण देख सकते है। जब कौरव-पाण्डव युद्ध होना निश्चित हो गया और दोनों ही विजय प्राप्त करने की अपनी-अपनी शक्ति को टटोलने लगे तो उन्हे प्रतीत हुआ कि हमारी विजय सिर्फ हमारी शक्ति से नही होगी। अतएव दोनो ही श्री कृष्णजी की शरण मे गये। दोनो ने कृष्णजी को अपने-अपने पक्ष मे शामिल करने का विचार किया। अर्जुन ने श्रीकृष्ण को पसन्द किया और दुर्योधन ने उनकी सेना पसन्द की। मगर विजय उसी पक्ष की हुई जिस पक्ष में अकेले श्रीकृष्ण थे। श्रीकृष्ण की बलवती सेना भी कौरवों को विजयी न बना सकी और अकेले निश्शस्त्र श्रीकृष्ण ने पाडवो को विजयी बना दिया।

अर्जुन ने विशाल और सुशिक्षित यादव सेना न लेकर कृष्ण को ही लेना उचित समझा था। अर्जुन जानते थे कि कृष्ण की विवेकयुक्त बुद्धि के सामने शस्त्र क्या कर सकते हैं ? नीति मे कहा है—

बुद्धिर्यस्य बल तस्य, निर्बुद्धेस्तु कुतो बलम् ?

अर्थात्— जिसमे बुद्धि है उसमे बल है। बुद्धिहीन में बल कहाँ ?

दुर्योधन के पक्ष में विशाल सेना थी और शस्त्रास्त्र की कमी नही थी, मगर उसको बुद्धि खराब थी। इस कारण उसकी हार हुई। अर्जुन बुद्धिमान् थे इसलिए उन्होने सेना न लेकर श्रीकृष्ण को ही लिया। इसी तरह अगर आपकी बुद्धि अच्छी है और आप विजय चाहते हैं, कर्मरूपी शत्रुओ को भगाना चाहते हैं, तो आप भगवान सुबुद्धिनाथ की शरण लीजिए। लेकिन यह ध्यान रखना कि भगवान् सुबुद्धिनाथ को प्राप्त करने के लिए निर्मल बुद्धि होनी चाहिए। अगर आपकी बुद्धि में विकार हुआ तो भगवान् सुबुद्धिनाथ आपको प्राप्त नही होगे। अपनी बुद्धि को निर्मल बनाकर जब आप सुबुद्धिनाथ प्रभु की शरण गहेंगे तो आपकी आत्मा के शत्रु आप ही भाग जाएँगे। आत्मा के सच्चे शत्रु आत्मा में ही रहते हैं। वे भगवान् की सहायता के बिना नही भाग सकते। इसलिए जैसे अर्जुन के मन मे यह निश्चय था कि कृष्ण के बिना मेरी जीत नही हो सकती, उसी प्रकार आप भी अपने मन में निश्चय कर लीजिए की भगवान् सुबुद्धिनाथ की सहायता के बिना मैं अपने आन्तरिक शत्रुओ पर विजय प्राप्त नही

कर सकता। इस प्रकार की दृढ आस्था होने पर ही आप भगवान् की शरण ले सकेंगे। श्रीकृष्ण के पास सेना भी थी और हथियार भी थे। लेकिन भगवान् सुबुद्धिनाथ के पास हथियार नही है। फिर भी क्या आप उनकी सहा-लेना पसन्द करेंगे ? आपकी समझ में यह वात आ जानी चाहिए कि हथियारो मे जहर भरा हुआ है। हथियार दूसरो का गला काटने के सिवाय और कुछ भी काम नही दे सकते। उनसे शत्रुओ की हानि नही, वृद्धि ही होती है। हानि अगर होती है तो शस्त्र का उपयोग करने वाले की ही होती है। शस्त्रों के द्वारा शत्रुता भी मिटने के वदले वढती है। अगर आप इस तथ्य को भली-भाँति समझ लेंगे तो शस्त्रहीन भगवान् सुबुद्धिनाथ को उसी प्रकार ग्रहण करेंगे जैसे वीर अर्जुन ने निश्शस्त्र श्रीकृष्ण को ग्रहण किया था। आप विश्वास रखिए, जव आपके हृदय मे वीतराग भगवान् विराजमान होगे तो राग-द्वेष आदि विकार उसी प्रकार विलीन हो जाएँगे जैसे सूर्योदय होने पर अन्धकार विलीन हो जाता है।

वाह्य दृष्टि से न देखकर अन्तर्दृष्टि से देखोगे तो पता चलेगा कि आपके आन्तरिक शत्रु वही हैं जिन्हे वीत-राग भगवान् ने जीता है। उन्ही शत्रुओ ने आपके ऊपर अपना आधिपत्य जमा रक्खा है। भक्तजन कहते है—

जे तुम जीत्या ते मुझ जीतिया,
पुरुष किसो मुझ नाम ····।

अतएव अगर आप वैरीविहीन वनना चाहते हैं तो भगवान् को अपने हृदयमन्दिर मे विराजमान कीजिए।

भगवान् ने उन वैरियों को जीत लिया है, अतएव उनके भीतर प्रवेश करते ही वैरी भाग जाएँगे। इसमे सदेह की आवश्यकता नही है। णमोकारमत्र का पहला पद है-'नमो अरिहताण।' अर्थात् वैरियों का नाश करने वालो को नमस्कार हो। इस पर आशका हो सकती है कि जिसने अपने वैरियो का नाश किया है वह वीतराग कैसे कहला सकता है ? मगर उन्होने किसी बाह्य शत्रु को नष्ट नही किया है। कर्म-शत्रु का नाश करने के कारण ही वे अरिहत कहलाते है।

कर्म किस प्रकार शत्रु हैं, यह बात समझने के लिए बुद्धि की आवश्यकता है। आम तौर पर कर्म का अर्थ कर्त्तव्य समझा जाता है। कर्त्तव्य चाहे अच्छा हो अथवा बुरा हो, वह यही रह जाता है। आत्मा के साथ वह नही जाता। ऐसी स्थिति मे कर्म परभव मे फल कैसे दे सकता है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि हिंसा आदि की क्रिया भले ही यही रह जाय मगर क्रियाजनित सस्कार आत्मा मे वना रहता है और वही सस्कार शुभ-अशुभ फल देता है। इस बात को समझने के लिए वनस्पति को देखिये। शास्त्र मे वनस्पति के सबन्ध मे बहुत विचार किया गया है और उसे 'दीर्घलोक' नाम दिया गया है। आज के वैज्ञानिक भी स्वीकार करते हैं कि वनस्पति स्वतन्त्र शक्ति प्राप्त करके हमे सहायता देने वाली है। वह पृथ्वी, पवन, जल आदि से विगड़ी वस्तु लेकर अपनी शक्ति से उसे सुधारती है। फिर उसका फल आप ग्रहण करते हैं। अव अगर आप सुधरी हुई वस्तु लेकर उसे बिगाड़ दें तो वनस्पति की अपेक्षा भी गये-बीते कहलाएँगे या नही ?

प्रश्न दिया जा सकता है कि पृथ्वी, पानी आदि को 'दीर्घलोक' न कह कर सिर्फ वनस्पति को ही 'दीर्घलोक' क्यो कहा है ? इस प्रश्न के उत्तर मे आचार्य का कहना है कि वनस्पति के आधार पर ही ससार का टिकाव है। इसी कारण वनस्पति को 'दीर्घलोक' कहते हैं।

पानी बरसने पर जगल मे हरियाली ही हरियाली दिखाई पडती है। पानी बरसने पर वनस्पति हरी हो जाती है, लेकिन साधु के वचनरूपी जल की वर्षा होने पर भी अगर आपके अन्त करण मे धर्म की जागृति नही हो तो आपको क्या कहा जाय ?

अपने यहाँ पन्नवणासूत्र में वनस्पति के सम्बन्ध मे बहुत विचार किया गया है। आजकल के वैज्ञानिकों ने भी वनस्पति शास्त्र की रचना की है। वनस्पति के विषय में गाँधीजी ने अपने एक लेख मे लिखा है कि—वनस्पति की शोध मे अभी तक बहुत कमी है। इतनी अधिक कमी है कि अगर यह कहा जाये कि अभी तक पृथ्वी ही नही जोती गई है तो भी कुछ अनुचित नही होगा। अगर वनस्पति की विशिष्ट खोज की जाये तो लोगो को भ्रष्ट दवा खाने की आवश्यकता न पडे। आयुर्वेद मे कहा है कि जो प्राणी जहा उत्पन्न होता है, उसके लिए उसी प्रदेश की दवा उपयोगी होती है। ऐसा होते हुए भी आजकल के लोग भ्रष्ट चीजें खाना पसन्द करते हैं और भारतवर्ष मे उत्पन्न होकर भी इग्लैण्ड की औषधि खाते हैं ? वह दवा कितनी ही अपावन क्यो न हो, बिना विचार किए उसे निगल जाते हैं या डकार जाते हैं। अगर वनस्पति के सम्बन्ध मे अधिक

खोज की जाय तो इस देश के निवासियों को प्रकृति के विरुद्ध और अपवित्र दवाइया खाने का अवसर ही न आवे।

मतलब यह है कि क्रियाजनित सस्कार किस प्रकार आत्मा को शुभाशुभ फल देता है, इस बात की खोज वनस्पति के आधार पर की जा सकती है। इसके लिए वटवृक्ष को देखिये। वटवृक्ष हवा-पानी आदि के सयोग से अपना विस्तार करता है। उसकी डालियो और पत्तो का फैलाव होता है और उनमे फल लगते हैं। वट की इस प्रकट क्रिया के साथ ही साथ उसमे एक क्रिया भी होती रहती है। उसी गुप्त क्रिया के आधार पर यह विचार किया जा सकता है कि शुभ-अशुभ क्रियाओ से उत्पन्न होने वाले सस्कार किस प्रकार आत्मा को फल प्रदान करते हैं?

बड के फल में छोटे-छोटे बीज होते हैं। उन बीजो मे बड अपना सरीखा वृक्ष भर देता है। फल या बीज मे अगर बड वृक्ष को देखने का प्रयत्न किया जाये तो दिखाई नही देता, मगर बुद्धि द्वारा समझा जा सकता है कि बीज मे सम्पूर्ण वृक्ष छिपा हुआ है। छोटे से बीज मे अगर वृक्ष न छिपा होता तो पृथ्वी, पानी, ताप आदि का अनुकूल सयोग मिलने पर वह कैसे प्रकट हो सकता था? आशय यह है कि बड-वृक्ष के सस्कार जैसे उसके बीज में मौजूद रहते हैं, उसी प्रकार आत्मा के द्वारा की हुई क्रियाओ के सस्कार आत्मा में मौजूद रहते हैं और वे सस्कार क्रिया के नष्ट हो जाने पर भी आत्मा को शुभ या अशुभ फल प्रदान करते हैं।

पानी बरसने से पहले, जगल मे जब हरियाली नही

होती, उस समय अगर हरियाली के बीजों को देखा जाये तो उनमें वैसी विचित्रता नजर नही आएगी । मगर पानी बरसने पर जब नाना प्रकार की हरियाली उगती है तो मानना ही पड़ेगा कि बीज भी नाना प्रकार के थे । बीज न होते तो हरियाली कहां से आती ? और अगर बीजो में विचित्रता न होती तो हरियालो में विचित्रता कैसे होती ? बीज के अभाव मे हरियाली नही होती, पानी चाहे कितना ही बरसे । इस प्रकार कार्य को देखकर कारण का पता लगा लिया जाता है । हरियाली को देखकर जाना जा सकता है कि यहा बीज मौजूद थे और जैसे बीज थे, पानी आदि का सयोग मिलने पर वैसा ही वृक्ष उगा है ।

बस, यही बात कर्म के सम्बन्ध में भी समझ लेना चाहिए। यों तो कर्म के बहुत से भेद है, मगर मध्यम रूप से आठ भेद किये गये हैं । जैन कर्मसाहित्य बहुत विशाल है और उसमे कर्म के विषय में बहुत विचार किया गया है। श्वेताम्बर-दिगम्बर आदि सम्प्रदायो में अनेक छोटी मोटी बातो मे मतभेद है, मगर कर्म के आठ भेदो मे तथा उनके कार्य के विषय मे किसी प्रकार का मतभेद नही है ।

इन आठ कर्मों मे चार अशुभ है और चार शुभाशुभ हैं। मगर शास्त्र का कथन है कर्म मात्र का, फिर चाहे वह शुभ हो या अशुभ, त्याग करना ही उचित है । ऐसा करने पर परमात्मा का साक्षात्कार होता है । यों तो आत्मा स्वयं परमात्मा ही है । कर्म के कितने ही आवरण आत्मा पर चढ़े हो, अपने स्वरूप से वह परमात्मा ही है । शुद्ध सग्रहनय के मत से 'एगे आया' अर्थात् आत्मा एक है, इस दृष्टिकोण के

अनुसार आत्मा और परमात्मा में कोई भेद नही है। अपना आत्मा भी परमात्मा की तरह पवित्र है। आत्मा और परमात्मा मे आज जो भिन्नता दृष्टिगोचर होती है, उसका कारण आवरण ही है। आवरणो के हट जाने पर आत्मा सुबुद्धिनाथ ही है। इसलिए कहा गया है --

द्वैत-कल्पना मेटो ।

वेदान्त भी 'तत्त्वमसि' कह कर इसी सिद्धान्त का निरूपण करता है। साराश यह है कि कर्म के कारण आत्मा और परमात्मा मे भिन्नता पड रही है। जब वह भिन्नता हट जाती है तो दोनो मे लेशमात्र भी अन्तर नही रहता। इस भिन्नता को हटाने के लिए ही भगवान सुबुद्धिनाथ को हृदय में बसाने की आवश्यकता है। भगवान् सुबुद्धिनाथ ने कर्मों को नष्ट कर डाला है, अतएव जिसके हृदय मे वे बसेंगे उसमें कर्मों का अस्तित्व नही रह सकेगा। काम, क्रोध, मोह आदि विकार कर्म के कारण हैं और जिस हृदय मे भगवान् बसते है उसमे इन विकारो की पंठ नही हो पाती। अतएव आत्मा निष्कर्म होकर पूर्ण परमात्मा बन जाता है।

मकान, ईंट-चूने का बना होता है, फिर भी आप उसे अपना मानते हैं। लडकी दूसरे की होने पर भी जब उसका सम्बन्ध आपके लडके के साथ हो जाता है तो उस पर आपकी आत्मीयता नही हो जाती ? इस प्रकार जब बाहर की चीज पर भी मोह होता है, तब जो कर्म शरीर से सम्बन्ध रखते हैं, उनके प्रति मोह होना स्वाभाविक ही है और उसके प्रति मोह होने के कारण ही आत्मा और

परमात्मा में अन्तर पडा हुआ है। कर्म की उपाधि न हो तो आत्मा और परमात्मा मे किसी प्रकार का अन्तर नही रहता। इसलिए कहा है—

तू जिस्म जिगर और जहाँ नहीं जानना।
फिर क्यो नहीं कहता खुदा जो तू है दाना।

क्या तू यह जानता है कि मैं जिस्म नही हूं, जिगर नही हूं और जहान भी नही हूं ? अगर जानता है तो फिर क्यो नही कहता कि मैं खुदा हूं ? कदाचित् यह कहा जाये कि ऐसा कहना अहकार होगा तो यह कहना ठीक नही। अहकार की बात तो तब होगी जब तुम अपने को जिस्म, जिगर और जहान मानोगे। अपने को जिस्म या जिगर समझना अहकार है। जब जिस्म, जिगर और जहान अलग हो जाता है तो शुद्ध आत्मा के सिवाय और बचता ही क्या है ? और उस अवस्था मे उसे परमात्मा कहना अभिमान की बात कैसे हो सकती है। अभिमान तभी तक रहता है जब तक ससार के प्रति मोह बना रहता है। ज्ञानी पुरुप मोह का नाश करने के लिए कहते हैं कि—

बुज्झिज्ज त्तितिउट्टिज्जा बंधणं परि जाणिया।
किमाह बंधणं वीरो किं वा जाणं तिउट्टइ ? ॥
चित्तमंतमचित्तं वा परिगिज्झ किसामवि।
अन्नं वा अणुजाणाहि एव दुक्खाण मुच्चइ ॥
जस्सिं कुले समुप्पण्णे जेहिं वा सव से नरे।
ममाइ लुप्पइ वाले अण्णे अण्णेहि मुच्चिये।

इस प्रकार आत्मा मोह-ममता के चक्कर में पड़ा हुआ है, अन्यथा उसे पुत्र आदि से क्या सरोकार है ? केवल ममता के कारण ही वह पुत्र को अपना मान रहा है। मित्रो ! इस प्रकार के मोह को जीत लो तो तुम्हीं परमात्मा हो। अगर तुमने इस मोह को नहीं जीत पाया है तो परमात्मा नहीं हो। अगर परमात्मा को वन्दन करना है तो बन्धन के स्वरूप को समझो और विचार करो— 'अरे आत्मन् ! तू कर्म के साथ कब तक बँधा रहेगा ? तेरा और परमात्मा का स्वरूप एक ही है। लेकिन मोह के चक्कर में पड़कर तू अपने असली स्वरूप को भूला हुआ है। मगर कब तक भूला रहेगा ? अनादिकाल से भूल में पडा है ! अब तो चेत।

अगर आप से आज ही गृह का त्याग नहीं हो सकता तो भी माया, ममता और तृष्णा का त्याग करदो। इतना करने से ही आपको बहुत लाभ होगा। उस अवस्था में आपको सन्तोष, शान्ति और समता की अपूर्व सुधा का सुख मिलेगा। परलोक की बात थोड़ी देर के लिए जाने भी दो तो इसी लोक में आप अपने जीवन को सुखमय और संतोषमय बना सकेंगे।

एक आदमी अज्ञानपूर्वक सांप को पकड़ता है और दूसरा ज्ञानपूर्वक। दोनों के पकडने में क्या अन्तर है ? अज्ञान से साप को पकडने वाला जब जानता है कि यह साप है तो डरकर भागता है। मगर जान-बूझकर साप को पकड़ने वाले के लिए साप खिलौना रहता है। अतएव आप संसार का स्वरूप समझो और अज्ञान त्यागो। भग-

वान् सुबुद्धिनाथ को हृदय में धारण करो। ऐसा करने पर ससार आपके लिए खिलौने के समान हो जायगा।

इस प्रकार का ज्ञान प्राप्त करने के लिए भगवान् सुबुद्धिनाथ की शरण लेना ही सुगम और उत्तम साधन है। आप अपना कल्याण चाहते हैं तो सुबुद्धिनाथ की शरण गहो।

२ : अन्तिम विजय

श्री आदीश्वर स्वामी को प्रणमू सिर नामी तुम भणी ।

यह भगवान् ऋषभदेव की प्रार्थना है। भारत के सौभाग्य से यहा की प्रजा में परम्परा से ऐसे सत्सस्कार चले आ रहे हैं कि वह परमात्मा के प्रति आस्था रखती है। भले ही विभिन्न सम्प्रदायो में परमात्मा के स्वरूप में किंचित् भेद माना गया हो, फिर भी परमात्मा की प्रार्थना सभी सम्प्रदाय वाले करते हैं। पश्चिमी देशो के प्रभाव से अलबत्ता कुछ नवयुवक परमात्मा या ईश्वर के विरुद्ध बातें कहते हैं और धर्म के वहिष्कार तक की ध्वनि सुनाई देने लगी है परन्तु मैं मानता हूं कि भारतवर्ष की जलवायु में भी परमात्मा का प्रभाव भरा है और उसे नेस्तनाबूद करना किसी के लिए सभव नही है। आज भी ऐसे बहुत से भद्र-परिणामो व्यक्ति हैं जो परमात्मा को अपने अन्त करण में स्थापित रखते हैं और धर्म को अपने प्राणो की तरह चाहते हैं।

कुछ मार्ग भूले हुए व्यक्तियो की बात छोड़ दी जाये तो यह कहा जा सकता है कि परमात्मा की प्रार्थना करना सभी को मान्य है। परमात्मा की प्रार्थना करने मे किसी सम्प्रदाय का मतभेद नही है। परमात्मा के विपय में अभेद-

विचार करना भक्तों के अधीन है। अतएव इस विषय मे, जिस बात पर पूर्ण विश्वास हो और जिसके लिए अन्तःकरण साक्षी दे, उस बात को प्रकट करना सबका कर्त्तव्य है।

यहा भगवान् ऋषभदेव की प्रार्थना की गई है। भगवान् ऋषभदेव वैदिक-परम्परा मे अवतार माने गये हैं और जैन परम्परा मे तीर्थंकर माने गये हैं। इस तरह शाब्दिक भेद होते हुए भी देखना है कि भगवान् ऋषभदेव को जैन किस दृष्टि से मानते है और दूसरे किस दृष्टि से मानते हैं। समस्त आर्यावर्त्त और हिन्दू जाति भगवान् ऋषभदेव के प्रति सन्मान और श्रद्धा का भाव रखती है। वास्तविक रूप से देखा जाये तो विदित होगा कि उनमे ऐसे गुण थे और उनका कर्त्तव्य इतना महान् था कि वे प्राणीमात्र के लिए मान्य होने ही चाहिए थे और इसी कारण वे मान्य हुए भी है। प्रश्न हो सकता है कि भगवान् ऋषभदेव का आर्यावर्त्त पर कौन–सा ऐसा महान् उपकार है? उन्होने प्राणीमात्र की किस आवश्यकता की पूर्ति की थी, जिसके कारण वे सभी को मान्य हो सके हैं? माननीय या इष्ट वही माना जाता है जो आवश्यकता की पूर्ति करता है। जो छोटी आवश्यकता की पूर्ति करता है वह थोडा इष्ट होता और जो बडी आवश्यकता पूर्ण करता है वह अधिक इष्ट होता है। जब कोई व्यक्ति अपने आपको किसी कार्य की सिद्धि के लिए असमर्थ समझता है, तब वह दूसरों की सहायता मागता है और उस सहायता की न्यूनता एव अधिकता के अनुसार ही वह सहायता देने वाले का आदर करता है। तो भगवान् ऋषभदेव ने ऐसी कौन-सी सहायता की थी जिसके कारण वे प्राणीमात्र के लिए

मान्य हो सके।

आज हमे भगवान् ऋषभदेव दिखाई नही देते। उन्हें इस भूतल पर आये युगयुगान्तर बीत गये हैं। उनका जीवनकाल इतना पुराना है कि वहा तक इतिहास भी अभी तक ठीक तरह नही पहुच पाया है। फिर भी प्रामाणिक आगमो मे भगवान् ऋषभदेव का विशद वर्णन मिलता है और उनसे भगवान् के कार्यों की महत्ता जानी जा सकती है। जगत् के जीवो का भगवान् ने किस प्रकार उपकार किया है, यह उज्जवल कथा आगमो के पृष्ठो पर लिखी हुई पाई जाती है। कारीगर के प्रत्यक्ष दिखाई न देने पर भी उसकी कलाकृति को देखकर उसके कौशल का अनुमान किया जा सकता है। इस नियम के अनुसार आगमों से भगवान् ऋषभदेव की महिमा समझी जा सकती है। आगमो मे कितना गूढ रहस्य भरा है, इस बात का विचार तो कोई पूर्ण पुरुष ही कर सकता है, मगर हमे भी अपनी बुद्धि के अनुसार विचार करना चाहिए। पक्षी को विमान प्राप्त नही है तो वह अपने पखो की शक्ति के अनुसार ही उडता है।

भगवान् ऋषभदेव का जन्म ऐसे समय मे हुआ था, जब पृथ्वी धर्महीन थी। धर्म से पृथ्वी का विरह हो गया था। भगवान् ने उस धर्म-विरह को मिटाया था। उन्होंने किस प्रकार धर्म-विरह को पृथ्वी से मिटाया, यह देखना है। भगवान् की जीवनी का अध्ययन करने से प्रतीत होता है कि उन्होने एकदम धर्म का उपदेश न देकर पहले जनता को धर्म का पात्र बनाया था। बिना पात्र के जब जल भी नही ठहर सकता तो धर्म कैसे ठहर सकता है ? बीज

बोने से पहले किसान खेत को जोतता है और उसे दुरुस्त करता है। उसके बाद बीज बोता है। ऐसे करने से ही उसका प्रयोजन सिद्ध होता है। खेत को जोते बिना अगर बीज बो दिया जाये तो गांठ का बीज ही चाहे चला जाये पर हासिल कुछ नही होता। सुनते हैं सिंहनी का दूध सुवर्ण के पात्र मे ही ठहरता है। धर्म के लिए भी इसी प्रकार की पात्रता की आवश्यकता होती है। अपात्र मे धर्म नही ठहर सकता। अतएव भगवान् ने पहले-पहल जनता को धर्म का पात्र बनाने का प्रयत्न किया और अपने सुदीर्घ जीवन के ८३ भाग इसी प्राथमिक कार्य मे लगाये। धर्मोपदेश देने में सिर्फ एक भाग व्यतीत किया। जब भगवान् ने देखा कि जनता अब परावलम्बी नही रही है, अपने जीवन की आवश्यकताओ को पूर्ण करने के लिए स्वाधीन हो गई है आत्म-निर्भर बन गई है और इस ओर का दुख उसका मिट गया है, तब उन्होने धर्म का उपदेश देना आरभ किया। जो व्यक्ति रोग और दुख से घिरा है उसे धर्म नही रुच सकता। इसीलिए शास्त्र में कहा है :—

> अह पचहि ठाणेहिं जेहिं सिक्खा लब्भइ।
> थभा कोहा पमाएणं होगेणा लस्सएण वा॥

इस प्रकार दुख और रोग से ग्रस्त मनुष्य धर्म के पात्र नही बन सकते। अतएव सब से पहले भगवान् ऋषभदेव ने सासारिक आवश्यकताओ सम्बन्धी दुख को मिटाया और उसके पश्चात् धर्मोपदेश दिया। भगवान् ने विचार किया कि लोग आलसी और परावलम्बी हो रहे हैं। जब तक कोई व्यक्ति अपने जीवन की आवश्यकताओ की ओर

से स्वावलम्बी नहीं है, तब तक वह धर्म का पात्र भी नहीं हो सकता। अतएव पहले इन्हे जीवन सम्बन्धी आवश्यकताओं की ओर से स्वतत्र बनाना चाहिए। जो अपने लिए भोजन और वस्त्र आदि भी नही बना सकता और इस प्रकार अपनी अनिवार्य आवश्यकताओ की भी पूर्ति नही कर सकता, उसे तब तक धर्म का उपदेश नही लग सकता। यह सोच कर भगवान् ने जीवन सबन्धी आवश्यकताओ की पूर्ति का मार्ग बतलाया। इसके लिए उन्होने मौखिक उपदेश देना ही काफी नही समझा, वरन् रचनात्मक कार्य करके सब के सामने आदर्श रक्खा। जीवन की आवश्यकतापूर्ति के लिए आदर्श उपस्थित करने के वास्ते भगवान् सब से पहले कृषक बने। उन्होने अपने हाथो हल चलाया और लोगो को खेती करना सिखलाया।

आज कुछ नागरिको की दृष्टि मे किसान खराब समझे जाते है। लेकिन यदि किसानो को खराब समझा जायेगा तो भगवान् ऋषभदेव को सब से पहले खराब कहना पड़ेगा, क्योकि वे सब से पहले किसान थे। यदि भगवान् अच्छे हैं तो किसान बुरे कैसे कहे जा सकते हैं ? ऐसी स्थिति मे किसानों को हीन दृष्टि से देखना एक बडी भूल है। सफेदझक कपडे पहिनने वाले चाहे जैसा धोखा दे, चाहे जैसा विश्वासघात करें, फिर भी वे अच्छे हैं और खेती करने के कारण किसान बुरे है, ऐसा मानना घोर पक्षपात है, अत्यन्त कृतघ्नता है और अन्याय है। व्यापार करने की दृष्टि से ही अगर देखा जाये तो भी आप बडे नही हैं। किसान आपसे बडा है।

भगवान् ऋषभदेव ने अन्न पैदा करने, उसे पकाने,

बनाने, खाने और पचाने की कला स्वयं ही सबको बतलाई थी । उन्होने बहत्तर पुरुषो की और चौंसठ स्त्रियों की कलाओ की शिक्षा दी थी । इस प्रकार जब स्त्री और पुरुष अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार स्वावलम्बी बन गये और मर्यादा के अनुसार जीवन सबधी आवश्यकताओं की पूर्ति करने लगे तब भगवान् ने उन्हे धर्म का उपदेश दिया ।

भगवान् ऋषभदेव से पहले सामाजिक व्यवस्था की स्थापना नही हुई थी । उस समय की जनता सामाजिक सगठन में गुथी नही थी । सब अपने में सीमित थे । भगवान् ऋषभदेव ने लोगों को समाज-सगठन के एक सूत्र मे बांधा, समाज का निर्माण हुआ । समाज-निर्माण के साथ ही साथ सामाजिक कर्त्तव्यों को जन्म दिया । भगवान् ने जिस व्यक्ति को जिस कार्य के योग्य देखा, उसे वही कार्य सौपा । वास्तव मे योग्यता के अनुकूल कार्य सौंपने से कार्य भी समुचित रूप से सम्पन्न होता है और कार्य करने वाले व्यक्ति का भी विकास होता है । इससे विपरीत जो जिस कार्य के लिए अयोग्य है उसके सिर वह कार्य थोप देने से कार्य की भी हानि होती है और उस व्यक्ति की भी हानि होती है ।

इस प्रकार समाज की स्थापना की जा चुकी और सामाजिक कर्त्तव्यो का निर्माण हो चुका तभी वर्ण व्यवस्था बनी । विभिन्न वर्ग कर्त्तव्य के आधार पर बनाये गये । वह वर्ग 'वर्ण' कहलाए । याद रखना चाहिए कि वर्ण व्यवस्था का एक मात्र आधार सामाजिक कर्त्तव्यों को भलीभांति पूरा करना था । उसमें किसी प्रकार की ऊँच-नीच की भावना को अवकाश नही था ।

इस प्रकार जब जनता जीवन की ओर से स्वावलम्बी बन चुकी तब भगवान् ने आगे का विचार किया । उन्होंने सोचा— यह स्वावलम्बन सच्चा और परिपूर्ण नही है । सच्चा स्वावलम्बन तो ससार के सब पदार्थों का त्याग करने मे है । अतएव अब मुझे जनता को सच्चा स्वावलम्बन सिखलाना चाहिए, यह सिखलाने के लिए आदर्श उपस्थित करना चाहिए । भगवान् ने जब यह विचार किया तभी देवगण भगवान् की सेवा में उपस्थित हुए और उन्होने धर्म की प्रवृत्ति करने की प्रार्थना की । भगवान् ने राजपाट तजकर सयम ग्रहण किया । उन्होंने देखा— जनता जीवननिर्वाह की दृष्टि से तो स्वाधीन होगई, परन्तु इस स्वाधीनता से मोक्ष नही हो सकता । मोक्ष की प्राप्ति तो इन सब प्राप्त पदार्थों का त्याग करने पर ही संभव है और त्याग का आदर्श उपस्थित करने के लिए सर्वप्रथम मुझे ही त्याग को अपनाना चाहिए। इस विचार से प्रेरित होकर संसार के कल्याण के लिए भगवान् ने सयम स्वीकार किया । सयम स्वीकार करने से पहले उन्होंने अपने पुत्रों की और राज्य की भी समुचित व्यवस्था कर दी । अपने सबसे बड़े लड़के भरत को उन्होंने अयोध्या का राज्य दिया और दूसरे लड़के बाहुबली को तक्षशिला का राज्य सौपा । इसी प्रकार शेष ९८ पुत्रो को भिन्न-भिन्न प्रदेशो का राज्य सौप दिया । सबको राजनीति सिखला दी और राज्य-व्यवस्था का उद्देश्य भी बता दिया । भगवान् ने कहा कि राज्य स्वीकार करना प्रजा की विशिष्ट सेवा स्वीकार करना है । भोगविलास के लिए राजा नही होता । प्रजा की रक्षा के लिए राजा होता है । यह सब

करने के पश्चात् भगवान् ने सयम लिया ।

भगवान् के सबसे बड़े पुत्र भरत के यहा चक्ररत्न उत्पन्न हुआ । भरत समस्त भारतवर्ष को एक ही शासन के अन्तर्गत करना चाहते थे । अतएव उन्होने अन्यान्य राजाओं पर अपना शासन स्थापित कर लिया । उनका विचार अपने भाइयो पर शासन चलाने का नही था । किन्तु अपने प्रधान के कहने से और आयुधशाला मे चक्र-रत्न के न घुसने से भरत को विवश होकर अपने भाइयों पर भी शासन करने का विचार करना पड़ा । तदनुसार भरत ने पहले अपने ९८ भाइयो के पास शासन स्वीकार करने के लिए सदेश भेजा । सदेश पाकर वे लोग सोचने लगे कि इस परिस्थिति मे हमारा कर्त्तव्य क्या होना चाहिए ? भरत का शासन स्वीकार करना उचित है या युद्ध करना उचित है ? जब विचार करके भी वे किसी अन्तिम निर्णय पर न पहुच पाये तो भगवान् से सलाह लेने का उन्होने निर्णय किया । उन्होने सोचा—अगर भगवान् युद्ध करने की सलाह दे तो युद्ध करना चाहिए । उस अवस्था मे अपनी हार कदापि नही हो सकती । अगर भगवान् कहे कि भरत तुम्हारा वडा भाई है और समग्र देश को एक सूत्र मे बांधने के लिए ही वह तुम्हारे ऊपर शासन चलाना चाहता है तो हमे भरत के शासन को स्वीकार कर लेने मे भी कोई आपत्ति नही होनी चाहिए ।

इस प्रकार सोचकर ९८ भाई मिलकर भगवान् के पास पहुचे । उस समय भगवान् ने अपने पुत्रो को जो उपदेश दिया था, उसका वर्णन सूयगडांगसूत्र मे भी है और

भागवतपुराण के रचयिता ने भी उसका मार्मिक वर्णन किया है। इस समय इस उपदेश के सबंध मे ही कुछ कहना चाहता हूं, क्योंकि यह क्षत्रियोचित उपदेश है। क्षत्रियो के सामने क्षत्रियोचित उपदेश देना ही उचित है। आप लोग आज ढीली धोती वाले बनिया बन रहे हैं, मगर आपके पूर्वज बनिया नही क्षत्रिय थे और वही खून आपकी नसो मे दौड़ रहा है। हम चाहते हैं कि आप अपनी असलियत को पहचानें और उसी क्षात्र तेज को फिर अपनावें, जो तेज आपके वीर पूर्वजो मे चमकता था।

भगवान् ऋषभदेव क्षत्रिय थे और उनके पुत्र भी क्षत्रिय थे। भगवान् अपने ९८ पुत्रों को भरत की अधीनता स्वीकार करने की सलाह दे सकते थे। मगर क्षत्रिय लोग अधीनता कब स्वीकार करते हैं! वे स्वतन्त्रता के सामने अपने प्राणो को भी तुच्छ समझते हैं। लेकिन उस स्वतन्त्रता का असली स्वरूप क्या है? वह कैसी होती है? यह बात भगवान् ऋषभदेव के उपदेश से ही जानी जा सकती है।

भगवान् ऋषभदेव ने अपने पुत्रो से कहा यदि मैंने तुम्हे पूर्ण स्वाधीन राज्य दिया होता तो भरत तुम्हारे ऊपर कदापि शासन नही चला सकता था। मगर तुम्हे जो राज्य मिला है वह पूर्ण रूप से स्वतन्त्र नही है। उसमे एकदेशीय स्वतन्त्रता है। इसी कारण भरत तुम्हारे ऊपर शासन करना चाहता है। तुम लोग मुझसे सलाह लेने आये, यह अच्छा ही हुआ। मैं तुम्हे यह सलाह देता हूं कि तुम ऐसा स्वतन्त्र राज्य प्राप्त करो कि जिस पर कोई भी

दूसरा शासन न चला सके ।

> सवुज्झह किं न वुज्झह, सवोही खलु पेच्च दुल्लहा !
> णो हूवणमति राइओ, नो सुलभं पुणरावि जीवियं !!
>
> —सूयगडागसूत्र

अर्थात्–हे पुत्रो ! समझो। बोध पाओ। वोधि बहुत दुर्लभ है। जो समय व्यतीत हो जाता है वह फिर लौटकर नही आता। मनुष्य-जीवन वार वार सुलभ नही है।

> नायं देहो देहभाजा नृलोके,
> कष्टान् करमानर्हते विड्भुजीये।
> तपो दिव्य पुत्र कायेन सत्त्व,
> शुद्धयेद्यस्माद् ब्रह्मसौख्य त्वनन्तम्।
>
> —भागवत

हमे इन दोनों जगह के उपदेशो की मौलिक एकता पर विचार करना चाहिए। अगर कोई समझता है कि भगवान् ऋषभदेव जैनो के ही भगवान् हैं तो उसका ऐसा समझना भूल है। महापुरुष किसी विशिष्ट वर्ग जाति या समूह के नहीं होते। महापुरुषों के समक्ष सभी ने अपना मस्तक झुकाया है। चाहे राम हो या ऋषभदेव हो, वे सभी के लिए मान्य हैं। फिर भी धर्मभावना की कमी और साम्प्रदायिकता की भावना मे वृद्धि होने से लोग आपस मे लडते-झगडते हैं। जब तक मनुष्य पूर्ण धर्म नही जानता और धर्म के नाम से अधर्म को पकड़े रहता है, तब तक क्लेश और कलह होना स्वाभाविक है। जब किसी महापुरुष की शरण मे जाने पर धर्म की प्राप्ति

होती है, तब सब प्रकार के क्लेश और कलह का अन्त हो जाता है।

भागवत के अनुसार भगवान् ऋषभदेव ने अपने लडको से कहा— 'यह शरीर भोग के लिए नही है।' इस कथन को सुनकर कोई यह कह सकता है कि आप त्यागियों को त्याग पसद है इसी कारण आप भगवान् के इस कथन को ठीक कहते हैं। मगर भोगो को अगर हम ही न भोगेंगे तो फिर कौन भोगेगा ? और फिर बेचारे भोगो की क्या दशा होगी ? ऐसा कहने वाले लोग मानो भोगो पर दया करते हैं और उनकी रक्षा के लिए ही भोग भोगते हैं। लेकिन भगवान् कहते हैं— यह देह कष्टदायी भोग भोगने के लिए नही है।

देखना चाहिए कि उक्त दोनो प्रकार के कथनो मे से कौनसा कथन ठीक है ? ध्यान रखना चाहिए कि कभी-कभी सिंह मनुष्य को खा जाता है। अगर सिंह को व्यक्त भाषा प्राप्त हो और वह कहने लगे कि मनुष्य मेरे खाने के लिए ही बने हैं तो क्या आप उसका कहना स्वीकार करेंगे ? और यदि सिंह ने मनुष्यो को खाना छोड दिया तो क्या मनुष्य निरर्थक-निरुपयोगी हो जायेंगे ? अगर सिंहो की एक सभा हो और सर्वसम्मति से यह बात स्वीकृत हो जाये कि मनुष्य का मास मीठा होता है, अतएव निश्चित किया जाता कि सिंह मनुष्यो को ही खाया करें और माने कि मनुष्य विधाता ने सिंहो के भोजन के लिए बनाए हैं। तो इस निर्णय को आप स्वीकार कर लेगे ? आप इसे स्वीकार नही करेंगे और इसे क्रूरता कहेगे। मनुष्य

सर्वोत्तम प्राणी है। ईश्वरत्व का प्रतिनिधि है। धर्म और कायदा-कानून मे भी उसका दर्जा ऊँचा है तथा पशुओ को मारने पर जितना दंड नही दिया जाता, उतना मनुष्य की हत्या करने पर दिया जाता है। ऐसी स्थिति मे सिहो का यह सर्वसम्मत निर्णय भी सही कैसे हो सकता है कि मनुष्य, सिहों की खुराक के लिए बनाये गए है।

इस प्रकार का तर्क उपस्थित करके आप सिहो के प्रस्ताव को अनुचित बतला सकते हैं। किन्तु ऐसी ही युक्तियो के आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि यह मनुष्य शरीर भोग के लिए नही है।

फिर प्रश्न किया जा सकता है—अगर मानव शरीर भोग भोगने के लिए नही है तो फिर किसलिए है ? इस शरीर की सार्थकता किसमे है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि ससार मे एक चीज दूसरे के काम मे तो आती है, परन्तु इसी कारण यह मान लेना कि हमारे लिए ही बनी है, भूल है। ऐसा मानने से बड़ी गड़बड़ी होगी। इसके अतिरिक्त यह बात किसी युक्ति या तर्क से सिद्ध भी नही की जा सकती। उदाहरण के लिए कल्पना कीजिए, कोई कहता है कि अन्न मनुष्य के खाने के लिए ही बना है। अब उससे पूछना चाहिए कि अगर तुम्हारा कहना एकान्ततः सत्य है तो अन्न के होते हुए भी ससार में लाखो मनुष्य भूखे क्यो मरते हैं, इसी प्रकार अगर कपड़ा मनुष्यो के लिए बना है तो मनुष्य नगे क्यो रहते हैं ? यह चीजें मनुष्यो के लिए ही बनी है, इस कथन मे अगर एकान्त रूप से सचाई है तो वे मनुष्यो के पास दौड़ कर क्यो नही

पहुच जाती ? मनुष्य अगर उनका उपयोग नही करेगा तो वे निरर्थक हो जानी चाहिए । ऐसी दशा मे उन चीजों को चाहिए कि वे अपने को सार्थक बनाने के लिए मनुष्य के पास भागी आवें और जब तक कोई मनुष्य उन्हे न भोग ले तब तक नष्ट न हो । लेकिन ऐसा नही देखा जाता । अतएव यही कहा जा सकता है कि उपर्युक्त मान्यता भूलभरी है । इस भ्रमपूर्ण मान्यता को हटाने के लिए ही यह उपदेश दिया गया है कि—हे मनुष्य ! तू धर्म का विचार करके काम कर । तू ने जो यह मान लिया है कि ससार की वस्तुए मेरे ही भोग के लिए बनी है, यह तेरी भूल है । इसी से तू दुखी हो रहा है ।

वास्तव मे देखा जाये तो ससार की वस्तुओं को अपने भोग के लिए मानकर उसके अधीन हो जाने मे सच्चा सुख नही है । सच्चा सुख स्वतन्त्रता मे है । यह बात दृष्टि मे रखकर ही भगवान् ने कहा है—हे पुत्रो ! यह शरीर भोग के लिए नही है । अगर कहा जाये कि शरीर भोग के लिए ही है तो इसका उत्तर यह है कि भोग तो विष्ठा खाने वाले शूकर भी भोग सकते हैं । ऐसी हालत मे यह कैसे कहा जा सकता है कि मनुष्य शरीर भोग के लिए ही है ? यह बात दूसरी है कि किसी की रुचि भोगों मे अधिक हो और वह भोग भोगने मे ही शरीर की सार्थकता समझ ले, पर ससार मे कुछ लोग ऐसे भी तो मिलते हैं जो भोगो को भुजगम के समान मानकर उनसे विमुख हो जाते हैं । भोगो की ओर उनकी रुचि नही जाती । अतएव सिर्फ रुचि के कारण यह नही कहा जा सकता कि मानव शरीर भोग के निमित्त है । फिर भी यदि ऐसा

मान लिया जाये तो रुचि की भिन्नता के कारण प्रत्येक चीज भिन्न-भिन्न कामों के लिए मानी जायेगी। उदाहरण के लिए विष्ठा को ही देखो। विष्ठा को सुअर जिस दृष्टि से देखता है, क्या मनुष्य उसे उसी दृष्टि से देखता है ? नही। इस प्रकार रुचि की भिन्नता के कारण पदार्थ के विषय मे दृष्टिभेद रखता है या नही ? एक सुन्दरी को उसका लडका किस दृष्टि से देखता है ? पति किस दृष्टि से देखता है ? कामी पुरुष किस दृष्टि से देखता है ? और योगी किस दृष्टि से देखता है ? लडका उसे अपनी जननी के रूप मे देखता है। पति पत्नी के रूप मे देखता है। कामी आदमी कामना की पूर्ति का साधन समझता है और योगी उसे अपने योग मे सहायिका मानता है। अब देखना चाहिए कि वह सुन्दरी वास्तव मे है किस के लिए ? वास्तव मे तो वह अपना शुभ-अशुभ परिपाक भोगने के लिए है। मगर लोग दृष्टिभेद के कारण उसे अपने-अपने लिए मानते है।

जिन चीजो को आप अपने लिए मानते हैं, उन्ही को पशु अपने लिए मानते हैं। आप जिन पदार्थों का उपभोग करते है, वे अगर पशुओ को मिले तो क्या पशु उनका उपयोग नही करेंगे ? बल्कि पशु, पक्षी और कीटाणु जिन वस्तुओ को भोगते है, स्वतन्त्र रूप से भोगते हैं। आप उनकी तरह स्वतन्त्र रूप से नही भोग सकते। इसके लिए शहद की मक्खियो का ही उदाहरण ले लीजिए। वैज्ञानिको के कथनानुसार वे कैसा छत्ता बनाती है, उसमे किस प्रकार न्यून से न्यून मोम लगाती हैं, किस प्रकार शहद भरती हैं एव किस प्रकार सफाई रखती हैं, किस प्रकार वस्तु का

सग्रह रखती है और किस प्रकार पानी आदि लाती हैं ? इत्यादि बाते जानने योग्य है । वे सब काम व्यवस्थापूर्वक करती है और स्वतत्र रूप से वस्तु का उपयोग करती हैं। लेकिन क्या इसी कारण वे मक्खिया मनुष्य बन जाती हैं ? मनुष्यो से अधिक स्वतत्र होने पर भी मक्खिया मनुष्य नही हैं । फिर भी आप उनका जूठा शहद खाकर क्यो अभिमान करते हैं ? मक्खियो की जूठन खाने वाला मनुष्य अगर अभिमान करता है तो क्या इससे उसकी पराधीनता और नीचता ही नही सूचित होती ?

साराश यह है कि भगवान् ने अपने पुत्रो से कहा कि यह मनुष्य शरीर भोग के लिए नही है, किन्तु दिव्य काम करने के लिए है । वह दिव्य काम क्या है, जिनके लिए यह शरीर है ? इसके उत्तर मे कहा गया है कि मनुष्य शरीर दिव्य तप करने के लिए है। दिव्य तप करने के कारण ही मनुष्य का शरीर सर्वोत्तम शरीर माना जाता।

भगवान् ऋषभदेव ने अपने पुत्रो को इस प्रकार का उपदेश दिया । ऐसा उपदेश देने के कारण ही भगवान् ऋषभ-देव माननीय और पूजनीय हुए। उन्होने जैसा उपदेश सारे ससार को दिया वैसा ही अपने पुत्रो को दिया । भगवान् के लिए उनके पुत्र और ससार के दूसरे जीव समान ही थे । इसी कारण भगवान् का वह उपदेश, जो उन्होने अपने पुत्रों को दिया था, शास्त्र मे लिखा गया है । भगवान् के इस उपदेश को अपने सामने रखकर आप विचार कीजिए कि आपका यह शरीर किसलिए है? इसे भोग भोगने मे नष्ट करना है या तप करके सफल बनाना है ?

इस ससार में मनुष्यों की दो श्रेणिया की जा सकती हैं। पहली श्रेणी मे वे हैं जो अपना जन्म भोग के लिए ही मान रहे हैं और दूसरी श्रेणी उनकी है जो जीवन का उद्देश्य तप समझते है। इन दोनों श्रेणियों के लोग पहले भी थे और आज भी हैं। इन दोनो मे कितना अन्तर है और अन्त मे किसके लिए क्या परिणाम निकलता है, यह बात एक कथा द्वारा वतला देना उचित होगा।

अयोध्या में अवध–नरेश राज्य करते थे और काशी में काशी–नरेश राज्य करते थे। अवध--नरेश सोचते थे कि हम प्रजा की रक्षा एव सेवा करने के लिए राज्य करते है और हमारा यह शरीर दिव्य तप करने के लिए है। दूसरी ओर काशीनरेश का यह विचार था कि हम उच्च श्रेणी के भोग भोगने के लिए राजा हुए हैं। इसलिए सब अच्छे-अच्छे रत्न हमारे पास ही होने चाहिए। इस प्रकार दोनो राजा दो प्रकार की श्रद्धा के थे। यह तो नियम ही है कि जिसकी जैसी श्रद्धा होती है, वह वैसा ही वन जाता है। कहा भी है—

श्रद्धामयोऽयं पुरुष. यो यच्छ्रद्ध स एव सः।

अर्थात्—मनुष्य अपनी श्रद्धा के अनुरूप ही हो जाता है। जिसकी श्रद्धा जैसी होती है, वैसा ही वह बन जाता है।

इस उक्ति के अनुसार दोनो राजाओ की प्रकृति उनकी अपनी-अपनी श्रद्धा के अनुसार वन गई थी। अवधनरेश ने अपना जीवन प्रजा की सेवा मे ही लगा दिया था। इस कारण उनके राज्य मे तो उनका जयजयकार होता ही

था किन्तु अन्य अन्य राजाओं में भी वे आदर्श और कर्त्तव्य-निष्ठ राजा माने जाते थे। वे जनता मे प्रात स्मरणीय पुरुष बन गये थे। उधर काशीनरेश अपनी भावना पूर्ण करने के लिए प्रजा को प्रत्येक शक्य उपाय से चूसता था। उसकी प्रकृति इतनी स्वार्थमयी बन गई थी कि वह अपने सिवाय अपने आत्मीयजनो को भी अपने ही सुख की सामग्री समझता था। इस कारण उसका भृत्यवर्ग, यहा तक कि उसकी रानी भी उससे असतुष्ट रहती थी। सब लोग यही सोचते थे कि—इस राजा का सुधार कैसे हो ? कौन इसे ठीक रास्ते पर लावे ? हे प्रभो ! अगर राजा का सुधार न हुआ तो देश मे हाहाकार मच जायेगा।

एक बार अवधराज का जन्मदिन आया। काशी के लोगो को भी पता चला कि आज अवध के महाराज का जन्मदिवस है। यह जानकर काशीवासी प्रजा को वडी प्रसन्नता हुई। सबका हृदय आनन्द से परिपूर्ण हो गया। वहा के लोगो ने उत्साह के साथ उनका जन्मदिन मनाने का निश्चय किया। स्थान स्थान पर दीपमालिकाएँ लगा-कर स्त्री-पुरुष एकत्रित होकर आनन्द मनाने लगे। सर्वत्र अवधेश की जयजयकार होने लगी। प्रजा अवध के महा-राज के जन्म-दिन के उपलक्ष्य मे हर्षविभोर होकर आनन्द मना रहा थी कि काशी नरेश भी अपने प्रधान के साथ उसी समय उस ओर से निकले। लोगो को उत्सव मनाते देखकर प्रधान से राजा ने पूछा— आज यह उत्साह और उमग किसलिए है ? क्या किसी उत्सव का दिन है ? प्रजा मे वडी चहल-पहल नजर आती है ? मुझे तो पता ही नही कि आज कोई उत्सवदिवस है !

प्रधान—महाराज, आज अवध के महाराज का जन्म-दिन है। प्रजा इसी उपलक्ष्य मे आनन्द मना रही है।

प्रधान की बात सुनते ही काशीनरेश की त्यौरियाँ चढ गई। क्रुद्ध स्वर मे वह कहने लगा—मेरे राज्य मे अवधराज का जन्म-दिवस मनाया जाता है! प्रधान, तुम क्या व्यवस्था करते हो ?

प्रधान महाराज पृथ्वी क राज्य की सीमा होती है, प्रेम के राज्य की सीमा नही होती। ऐसी स्थिति मे प्रजा को अवधेश का जन्मदिवस मनाने से किस प्रकार रोका जा सकता है ? अगर मेरी बात पर आपको भरोसा न हो तो परीक्षा करके देख लीजिये। आप स्वय प्रजा को रोककर देखिए। आपको विदित हो जायेगा कि आपकी प्रजा अवधेश से कितना प्रेम करती है ?

प्रधान की बात सुनकर राजा को आश्चर्य हुआ। मगर प्रजा से कोई बात पूछने का साहस उसे नही हुआ। उसने सोचा—इस समय लोग हर्ष मे विभोर है। छेडछाड़ करना उचित नही होगा।

राजा किंचित् आश्चर्य और चिन्ता के साथ महल की ओर लौट गया। उसके हृदय मे यह बात काटे की तरह चुभ रही थी कि मेरे राज्य मे अवध-नरेश का जन्म-दिवस मनाया जाता है! इस विचार मे उसके अन्तःकरण मे ईर्षा की आग धधक उठी। अपनी सुलगाई आग मे वह आप ही ईंधन बनने लगा। उसे रात मे नीद नही आई। इधर उधर करवट बदलने लगा। रानी से उसकी मानसिक व्यग्रता छिपी नही रही। रानी ने पास जाकर

और राजा के शरीर पर अपना कोमल हाथ फेरकर पूछा—'स्वामिन् ! आज क्या कारण है कि आपको नींद नहीं आ रही है ? आप इधर से उधर करवटें बदल रहे हैं और अशान्त मालूम होते हैं।

राजा अभिमान के नशे में था और यथार्थ बात कहने से उसके अभिमान को ठेस लगती थी। अतएव उसने रानी से कहा— 'तुम स्त्री हो। तुम्हें कोई बात बतला भी दी जाये तो उससे क्या लाभ होगा ?'

रानी—यदि मुझ से कहने से कुछ नहीं हो सकता तो इस प्रकार करवटें बदलने से भी कुछ नहीं हो सकता। आप मुझे अपने सुख-दुःख की बात सुनाने योग्य समझते हैं तो कहिए।

राजा ने कुछ नरम पड़कर कहा—मैंने ऐसा कह कर गलती की है। तुम ही मेरे हृदय की बात सुनने योग्य न होओगी तो कौन होगा ? बात यह है कि आज अपने राज्य में अवध के राजा का जन्मदिन मनाया गया है। प्रजा ने उत्साहपूर्वक उत्सव किया है। मेरे राज्य में किसी दूसरे राजा का जन्मदिन मनाया जाना मेरे लिए असह्य है। इसी कारण मैं चिन्तित हूं।

रानी—वास्तव में यह बात चिन्ता के ही योग्य है। लेकिन चिन्ता करना किसी भी बीमारी का इलाज नहीं है। चिन्ता से दुःख घटता नहीं, बढ़ ही जाता है। जब हमारे सामने कोई चिन्ताजनक घटना हो तो चित्त को स्वस्थ रखकर उसके कारणों पर विचार करना चाहिए। अगर कारण

समझ में आ गये तो उस घटना का प्रतीकार करना सहज हो जाता है। चिन्ता तो स्थिति को अधिक खराब कर देती है।

राजा—समझ में नही आता कि अवध के राजा ने हमारी प्रजा पर क्या जादू फेर दिया है ?

रानी—नाथ, मेरी समझ तो यह है कि हमारे हृदय की मधुरता और वाणी की मिठास ही सबसे बड़े जादू हैं। जिसमे यह दो बातें होती हैं वह अनायस ही दूसरों को अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है। इससे बाद भलाई करने का नम्बर आता है। उस आकर्षण को स्थायी और प्रबल बनाने के लिए दूसरों की भलाई के काम करना आवश्यक है। अवध का राजा क्या काम करता है जिससे अपनी प्रजा उसका जन्मदिन मनाती है ? आप इस बात पर विचार कीजिए और वही काम आप भी करना आरभ कर दीजिए।

राजा—इससे क्या होगा ?

रानी—इससे यह होगा कि आपकी प्रजा अवध के राजा को भूल जायेगी और आपका आदर करेगी। इतना ही नही, वरन् अवध की प्रजा भी आपका जन्मदिवस मनाने लगेगी।

रानी ने बावन तोले पाव रत्ती बात कही थी। मगर राजा को यह सलाह पसद नही आई। उसने कहा—आखिर तो तुम स्त्री ही ठहरी न ! तुमने स्त्रियों के योग्य ही बात कही है। तुम नही समझती कि मैं अवधनरेश की तरह कायर नही हूं और प्रजा का गुलाम बनकर नहीं रह

सकता । वह खाना-पीना भूलकर और ऐश-आराम भूलकर प्रजा के पीछे ऐसा लगा रहता है, जैसे उसका नौकर हो और उसी का अन्न खाता हो । मुझ से यह नहीं बन सकता । कदाचित् मैं ऐसा ही करू तो भी यहा अवधराज का जन्मदिन मनाया जाना कैसे रुक सकता है ? मैं तो कोई और ही उपाय सोचूगा ।

राजा का यह कथन सुनकर बेचारी रानी चुप हो गई । उधर राजा ने सेनापति को बुलवाया और सेना तैयार करने का आदेश देते हुए कहा— किसी को खबर न होने पावे । सेना का सचालन मैं, स्वय ही करूंगा और अयोध्या पर अपना झण्डा फहराऊगा ।

जैसे अग्रेज सरकार दमन करके काग्रेस की कीर्त्ति और शक्ति को नष्ट करने का प्रयत्न करती थी, उसी प्रकार काशीराज दमन का सहारा लेकर अवधनरेश की प्रतिष्ठा नष्ट करना चाहता है ।

सेनापति ने सेना तैयार की और काशीनरेश के नेतृत्व मे, रात्रि के समय उसने अयोध्या पर हमला कर देने का विचार किया । काशीनरेश की सेना अवध की सीमा पर पहुची । अवध के सीमा रक्षको ने राजा को समाचार दिया कि काशीनरेश सेना लेकर चढ आये हैं । अवधनरेश यह समाचार पाकर सोचने लगे—काशीनरेश के साथ मेरी कोई अनबन नही है । इस समय कोई ऐसा कारण भी उपस्थित नहीं हुआ कि उन्हे मेरे राज्य पर चढाई करने का अवसर मिले । फिर उनके चढाई करने का क्या कारण है ?

मंत्री ने अवधराज से कहा—महाराज, मै तो पहले ही कहता था कि सीमाओ पर पर्याप्त सेना रखनी चाहिए। सेना के विना राज्य की रक्षा नही होती। मगर आपने मेरी बात अनसुनी कर दी। उसका परिणाम आज दिखाई दे रहा है।

अवधनरेश—यह तो ठीक है, मगर काशीराज ने चढ़ाई क्यो की है? हमारी ओर से कोई ऐसा कारण नही हुआ कि उन्हे चढाई करनी पड़ी।

मंत्री—चढ़ाई का कोई खास कारण नही हुआ करता। जो महत्त्वाकाक्षी और बलवान् होता है वह निष्कारण ही दूसरे राज्य पर हमला करके अपने राज्य का विस्तार कर लेता है। अब अगर आपकी आज्ञा हो तो जो सेना तैयार है, उसी को लेकर काशीनरेश का सामना करने की योजना करूं।

अवधराज—नही, ऐसा करने की आवश्यकता नही है। काशीनरेश की सेना के प्रवाह में अपने थोड़े-से लोगों को वहा देना अनुचित है। एक बार मैं स्वयमेव काशी-नरेश से मिलकर वातें करना चाहता हूं इस वार्तालाप का परिणाम देख लेने के पश्चात् जो उचित होगा, किया जायेगा।

अवधनरेश घोडे पर सवार होकर अकेले ही काशी-नरेश से मिलने के लिए रवाना हुए। लोग कहने लगे—अकेले शत्रु की सेना में जाना उचित नही है। मंत्री ने भी समझाया— महाराज! ऐसा करना राजनीति से विरुद्ध

है। मगर अवधनरेश का हृदय काच की तरह स्वच्छ था। अतएव उन्होने कहा-- इस राजनीति से हमें अपना पिंड छुडाना है। मैं तो एक नवीन राजनीति की नीव डालना चाहता हू।

अवधनरेश अकेले घोडे पर सवार होकर काशीराज की छावनी मे पहुचे। जब काशीराज को उनके आने की सूचना मिली तो उसकी प्रसन्नता का पार न रहा। उसने कहा—'अवधनरेश भयभीत होकर मेरे सामने आया है! देखा मेरा तेज और सामर्थ्य!' यह कहकर उसने अवध-नरेश को ले आने की स्वीकृति दी।

अवधनरेश ने जाकर काशीराज से कहा—आपने इस प्रकार निष्कारण की चढाई करने का कष्ट क्यों किया? कृपया बतलाइए कि मेरे राज्य में प्रजा को कुछ कष्ट है? मेरी प्रजा की आपके पास कोई शिकायत पहुची है? अथवा कोई अन्य कारण है?

काशीराज के पास इन प्रश्नो का कोई उत्तर नही था। वास्तव मे चढाई का कोई समुचित कारण नही था। अतएव उसने कहा—तुम कायर हो जो इस प्रकार का प्रश्न करने आये हो! मैं ऐसे प्रश्नो का यहा कोई उत्तर नही देना चाहता। मुझे जो उत्तर देना है, रणभूमि मे ही दूंगा और मुख से नही, तलवार से दूंगा। अगर तुम में बल है तो तलवार का सामना करो। नही है तो जगल मे भाग जाओ।

अवधेश—मुझ मे बल तो है पर मैं अपने बल का दुरुपयोग नही करना चाहता। उचित तो यह था कि आप

अपने राज्य की रक्षा आप करते और अपने राज्य की रक्षा मैं करता । मगर आप मेरे प्रश्नों का उत्तर नही देना चाहते । इससे जान पडता है कि आप अवध का भी राज्य चाहते हैं । इसी कारण आप बार बार तलवार की बात कहते हैं । लेकिन मैं अपनी प्रजा का रक्त नही बहाना चाहता । युद्ध का अवसर आवे, यह मुझे अभीष्ट नही है । आपको राज्य चाहिए तो खुशी से लीजिए । सिर्फ इस बात का ध्यान रखिए कि जिस प्रकार मैंने प्रजा का पालन किया है उसीं प्रकार आप करें और प्रजा को कष्ट न होने दें । राज्य प्रजा की सुख-शांति के लिए है । राज्य पाकर राजा को अपनी प्रजा कें प्रति एक पवित्र कर्त्तव्य पालना पडता है । जब आप मेरा कर्त्तव्य अपने माथे ले रहे हैं तो मेरा बोझ हल्का हो रहा है । इसके लिए युद्ध क्यों किया जाये ? प्रजा का रक्त क्यो बहाया जाये ?

अवधनरेश इतना कहकर और थोडी देर उत्तर की प्रतीक्षा करके, उत्तर न मिलने पर रवाना होने लगे । चलते-चलते उन्होंने फिर दुहराया—ठीक है, मैं जाता हू । प्रजा का ध्यान रखिएगा ।

इतना कहकर अवधनरेश जंगल की ओर चल दिये । काशीराज यह देखकर प्रसन्न हुआ और सोचने लगा—मैं कितना बहादुर हू । मेरे भय से अवध का राजा जगल में भाग गया । वह मेरा सामना नही कर सका । युद्ध किये बिना ही मेरी जीत हो गई ।

काशीराज ने अयोध्या पहुचकर अपना झंडा फहरा दिया । अपने कर्मचारियो को वहा शासन सँभलाकर वह

काशी लौट आया। उसे आशा थी कि काशी की प्रजा इस विजय के उपलक्ष्य में मेरा स्वागत करेगी और अवध के राजा को भूल जायेगी। प्रजा अवधराज की कायरता देखकर अवश्य ही उससे घृणा करेगी और मेरे प्रताप और पराक्रम की सराहना करेगी। मगर काशी पहुचने पर उसकी आशा पर पानी फिर गया। काशी को प्रजा को जब पता चला कि हमारे महाराज ने अवध पर आक्रमण किया था और अवध के राजा अपना राज्य इन्हे देकर जगल मे चले गये हैं, जो घृणा और तिरस्कार की भावना प्रजा के हृदय मे उत्पन्न हो गई। जगह-जगह आलोचना होने लगी। किसी ने कहा—काशीराज अपने राज्य मे तो सुधार कर ही नही सकते और न्यायनीति के साथ राज्य करने वाले अवधराज पर चढाई करके उन्होने उसका राज्य छीन लिया! दूसरा कहने लगा—अवधराज का अपराध क्या था? प्रजा से प्रेम करना ही उनका एक मात्र अपराध था और इसी अपराध का उन्हे दड दिया गया है। इस प्रकार काशी की समस्त प्रजा अपने राजा से असन्तुष्ट और रुष्ट हो गई। राजा के आने पर प्रजा ने काले झडे दिखला कर अपना असन्तोष प्रकट किया।

प्रजा का असन्तोष देखकर काशीराज चकित हो गया। उसने विचार किया मेरी विजय का परिणाम उल्टा ही निकला। इस प्रकार सोचते-विचारते वह अपने महल मे पहुचा। उसे आशा थी कि मेरी विजय से प्रसन्न होकर रानी मुसकराती हुई मेरे स्वागत के लिए आगे वढकर आएगी, मगर उसने जो कुछ देखा, उससे उसकी निराशा और विषाद की सीमा न रही। उसने देखा—रानी काले

कपड़े पहले बैठी है ! यह देखकर राजा ने कहा मेरे जीवित रहते काले कपड़े क्यों पहिने है ?

रानी ने तमक कर कहा— आपका जीवित रहना और न रहना एक समान हो गया है । बल्कि मेरी समझ में अपयशमय जीवन की अपेक्षा यशोमय मृत्यु अधिक श्रेयस्कर होती है । आप अपनी प्रजा को तो सुख दे नही सके और अवध की प्रजा से सुख देने वाला राजा आपने छीन लिया ! अवध की प्रजा का सुख नष्ट करके और उसे दुखी करके आपने क्या पा लिया ? आज कोई भी समझदार व्यक्ति आपके इस कार्य की सराहना नही करता । सभी लोग एक स्वर से इस अन्याय, अत्याचार की निन्दा कर रहे हैं ।

रानी की बात सुनकर राजा को सद्बुद्धि आनी चाहिये थी मगर उसे सद्बुद्धि नही आई । वह उलटा यह सोचने लगा—मैंने भूल की कि अवधनरेश को जीवित जाने दिया । यह बहुत बुरा हुआ । वह जीवित है, यह जानकर ही प्रजा का रुख उसकी ओर है, क्योकि अभी लोगो को उसकी तरफ से आशा है । ऐसी स्थिति मे उसे मरवा डालना ही उचित होगा । फिर न होगा बास न बजेगी बासुरी । इस प्रकार निश्चय करके उसने घोषणा कर दी कि जो कोई अवधेश का मस्तक काट कर लाएगा, उसे सवा मन सोना दिया जायगा ।

राजा की यह घोषणा सुनकर प्रजा दग रह गई । राजा की और अधिक निन्दा होने लगी । उधर अवधनरेश तप करता हुआ जगल मे घूमा करता था । वह अपनी स्थिति के प्रति असतुष्ट नही था । राज्य त्यागने का उसे

दुःख नही था । बल्कि वह सोचा करता था—परमात्मा की कृपा से मुझे अच्छा अवसर मिल गया । यो आत्म-कल्याण के लिए मैं नही निकल पाता, लेकिन काशीनरेश ने मेरा भार अपने सिर पर ले लिया। मुझे उन्होने हल्का कर दिया और आत्मकल्याण करने का अवसर दिया । मैं उनका भी अनुग्रह मानता हूं ।

जगल मे घूमते हुए अवधनरेश को एक बनिया मिला । उसका जहाज पानी मे डूब गया था । वह सोचता था—यह तो गनीमत हुई कि मैं जीवित बच गया । मगर मेरे सिर पर कई लोगो का कर्ज चढा है। मेरा विश्वास करके कई लोगो ने मुझे पूजी दी थी । अब उनकी पूजी अगर उनके पास नही पहुचती तो विश्वासघात होगा । मै मर भी नही सकता । लोगों का कर्ज चुकाये बिना मरने का मुझे अधिकार ही नही है । मेरा सर्वस्व भले ही चला गया है पर सद्बुद्धि मेरी बनी हुई है । अगर थोडी सी नई पूजी मिल जाये तो कमाई करके मैं कर्ज उतार सकता हूं । मगर कठिनाई तो यही है कि थोड़ी पूजी भी कहाँ पाऊँ ?

इस प्रकार सोच-विचार मे डूबे हुए उस वणिक् को अवधनरेश का ख्याल आया । उसने सोचा—अवधनरेश के पास चलना चाहिए । सभव है, उनसे मुझे कुछ सहायता मिल सके । वह अवधनरेश के पास जाने के लिए रवाना हुआ । चलते-चलते वह उसी जगल मे आया, जहा राजा रहता था साधारण जगली के भेष मे उसे अवधनरेश मिल भी गया । मगर वह उसे पहिचान नही सका । उसने और

जंगलियों की तरह उसे भी एक जगली समझ लिया। उसने उसे आवाज देकर पूछा—'अरे भाई ! अयोध्या का रास्ता कौन-सा है ?'

अवधनरेश—अयोध्या क्यों जा रहे हो ?

वणिक्—मेरा जहाज डूब गया है। मेरे सिर पर कर्ज चढा हुआ है। चाहता हूं, किसी उपाय से कर्ज उतर जाये तो अच्छा है। लेकिन मेरे पास पूजी नही है। पूजी हो तो अपनी बुद्धि से रुपया कमा कर कर्ज चुका सकता हूं। अयोध्या के महाराज के पास इसी प्रयोजन से जा रहा हूं। आशा है वह मेरा दुख दूर करेंगे।

अवधनरेश सोचने लगे—लोग अभी तक अवध और अवधनरेश को भूले नही हैं। प्रकट मे उन्होंने कहा-भाई, अयोध्या का राजा तो काशीनरेश को अपना राज्य देकर जगल मे चला गया है। इस समय अयोध्या मे काशीनरेश का ही राज्य है।

यह दुसवाद सुनकर वणिक् को बडा दुख हुआ। अवधनरेश ने उसके मन के भाव को समझ लिया। जिसके अन्तकरण मे दया का वास होता है, वह किसी को दुखी नही देख सकता। दुखी को देखते ही उसका हृदय पिघल जाता है और अपने सर्वस्व को त्याग कर भी वह दूसरे का दुख दूर करने की भरसक चेष्टा करता है।

अवधनरेश ने कहा—भाई, अगर तेरा काम सवा मन सोने से चल सकता है तो मैं दिला सकता हूं।

वणिक् को पहले तो विश्वास नही हुआ। वह आख

फाड कर अवधेश की ओर देखने लगा और मन ही मन पता लगाने लगा कि इसकी बात कहा तक सच है ? फिर– बोला–अगर सवा मन सोना मिल जाये तो उससे मैं बहुत कुछ कर सकता हू और अपने सिर का बोझा-ऋण उतार सकता हूं ।

अवधनरेश ने सोचा–अपने सिर का बोझ उतारने के लिए इसे द्रव्य की आवश्यकता है । काशीनरेश ने घोषणा कर ही रखी है कि वह मेरे सिर के बदले सवा मन सोना देगा । आज नही तो कल, एक दिन मैं मर ही जाऊँगा । उस दिन यह सिर वृथा चला जायेगा । ऐसी हालत में आज अगर मेरे सिर से दूसरे के सिर का बोझ उतरता है और किसी की भलाई होती है तो अपने सिर को दे देने मे क्या हर्ज है ? यह उपकार का काम करना ही मेरे लिए श्रेयस्कर है ।

अवधनरेश ने वणिक् से कहा–तुम मेरे साथ चलो । वणिक् साथ हो लिया । अवधनरेश चलते-चलते काशी आये । राजमहल के द्वार पर पहुचकर उन्होने भीतर सूचना भिजवाई–एक आदमी अवधनरेश का सिर लेकर आया है ।

यह समाचार पाकर काशीनरेश को अत्यन्त प्रसन्नता हुई । उसने सिर लाने वाले आदमी को अपने सामने उपस्थित करने का आदेश दिया । अवधनरेश काशीराज के सामने, वणिक् को साथ लेकर पहुचे । उन्होने कहा– मेरा सिर ले लो और अपनी घोषणा के अनुसार सवा मन सोना इस वणिक् को दे दो ।

काशीनरेश को जान पड़ा, जैसे वह सपना देख रहा हो। उसे अपनी आखो और अपने कानों पर विश्वास नही हुआ। चकित भाव से उसने पूछा—क्या अवधनरेश तुम्ही हो?

अवधनरेश–अभी बहुत दिन नही हुए, तब मैं आपसे मिला था। क्या आप इतनी जल्दी मुझे भूल गये? उस दिन मैं अकेला आपके पास आया था। मैने आपसे कहा था, आपको अवध का राज्य चाहिए तो ले लीजिए। लेकिन मेरी प्रजा का पालन उसी प्रकार कीजिए जैसे मैं कर रहा हू। याद तो होगा ही आपको। आप राजा हैं। आपको कोई बात इतनी जल्दी नही भूल जाना चाहिए।

काशीनरेश को उस दिन की सभी बातें स्मरण हो आई। उसका हृदय सहसा बदल गया। विस्मित और चकित भाव से उसने कहा—यह तो मुझे याद आया कि उस दिन आप ही अपना राज्य मुझे सौंपने आये थे, मगर मैं यह नही समझ सका कि आप इस व्यक्ति के लिए अपना सिर देने क्यों आये हैं? जिस सहज भाव से उस दिन आपने राज्य दे दिया था और उसके लिए हृदय में किसी प्रकार की दुविधा नही की थी, कोई सकोच नही किया था, उसी सहज भाव से आज अपना सिर देने के लिए आप आये हैं। यह बात मेरी समझ में नही आ रही है। उस दिन मैंने समझा था कि अवधनरेश कायर है। यह युद्ध करने से डरता है और इसी कारण अपने प्राण बचाने के लिए राज्य सौप रहा है, पर आज ऐसा नही सोच सकता। स्वेच्छापूर्वक सिर देने वाला पुरुष कायर नही कहा जा सकता। ऐसा करने के लिए असाधारण वीरता और निस्पृ-

हता की आवश्यकता है। इस कारण मैं जानना चाहता हू कि आप किस प्रयोजन से इस व्यक्ति के लिए अपना सिर देना चाहते हैं ?

अवधनरेश—इस प्रपच में आप पडते ही क्यो हैं ? आपको अवध के राजा का सिर चाहिए और वह सामने ही मौजूद है। आप अपनी तलवार सभालिए और अपनी अभीष्ट वस्तु लीजिए।

काशीराज—नही, अब ऐसा नही हो सकता। पहले कारण जान लूगा तभी सिर लेने का विचार करूँगा। आप पूरा विवरण मुझे कह सुनाइए।

अवधनरेश—मुझे सदेह है कि कारण जानने के पश्चात् आप तलवार चला सकेंगे। उस समय आपकी तलवार चलेगी नही। इसलिए अपना काम अभी कर लीजिए।

काशीराज—नही चलेगी तो न सही। कारण तो जानना ही है कि दूसरे के लिए आप अपना सिर क्यो दे रहे हैं ?

अवधनरेश—हे राजन् ! अगर मेरा यश-शरीर बना रहे और भौतिक शरीर न भी रहे तो कोई हर्ज नही। इन दोनो मे मुझे यश-शरीर की रक्षा करना अधिक प्रिय है। भौतिक शरीर तो जाने वाला ही है। रक्षा करने की लाख चेष्टा करने पर भी वह रक्षित नही रह सकता। अतएव अपने यश-शरीर की रक्षा के लिए ही मैं अपना भौतिक शरीर दे रहा हू। इस वेचारे वणिक् का जहाज डूब गया है। यह दूसरो का ऋणी है। इसे धन की आव-

श्यकता है । मैं सोचता हूं, एक दिन यह सिर वृथा ही जायेगा । आज इससे एक व्यक्ति को धन मिलता है और उसका दुःख दूर होता है तो इसे आज ही देने मे क्या हर्ज है ? जब मरना ही है तो किसी का दुःख मिटा कर ही क्यो न मरूँ ?

दया और परोपकार का यह कितना उत्कृष्ट और उज्ज्वल उदाहरण है ? अवधनरेश दूसरे का दुःख मिटाने के लिए अपना सिर भी निछावर करने तैयार है आप लोगो मे कोई ऐसा तो नही है जो चार-आठ आने के लिए झूठ बोलता हो और धर्म को धोखा देता हो ? आज अधिकाश लोग ऊपरी भपका दिखलाते हैं, धार्मिकता का प्रदर्शन करते हैं, लेकिन कौन कह सकता है कि वे सच्ची धार्मिकता का पालन कितना करते हैं ? जिसे धर्म का वास्तविक ज्ञान होगा और जो उसका पालन करना चाहेगा, उसे यह शरीर तो मिट्टी का दिखाई देगा । वह इस शरीर को सदा नाशवान् समझेगा । धर्म को वह सजीव और अमर मानेगा ।

अवधनरेश ने काशीराज को अपना सिर देने का प्रयोजन समझा दिया । अवधनरेश की बात सुनकर काशीराज सिंहासन से नीचे उतर आया । उसने अपने हाथो अपने सिर का मुकुट उतारा और अवधनरेश के मस्तक पर रख दिया । वह बोला 'अवधनरेश की जय हो !'

नगर मे यह बात फैल गई कि अवध के राजा अपना मस्तक देने आये हैं और सीधे राजा के पास गये हैं । यह बात सुनते ही लोग आपस मे कहने लगे—वह दुष्ट फौरन

अवधनरेश का सिर धड से जुदा कर देगा। इस भयानक आशका से चिन्तित लोग राजमहल की ओर दौड आये। वह जानने के लिए अतिशय व्यग्र थे कि अवधनरेश के विषय मे क्या निर्णय किया गया है? उन्हे उसी समय ज्ञात हुआ कि स्वय काशीराज, अवधनरेश की जय बोल रहे हैं। यह जयकार सुनकर लोगो को कितना हर्ष हुआ, कहना कठिन है। पर उस जयकार के उत्तर मे, राजमहल के बाहर से गगनभेरी ध्वनि गूज उठी—'जय हो मस्तक देने वाले की और जय हो मस्तक लेने वाले की!'

अवधनरेश और काशीराज—दोनो एक ही सिंहासन पर गुरु-शिष्य की भाँति बैठे। अगर काशीराज अवधेश का सिर काट लेता तो उसे क्या मिलता? क्या वह प्रजा की ओर से सन्मान प्राप्त कर सकता था? नही। जो सुनता वही घृणा करता और उसकी क्रूरता पर थूकता। इसके अतिरिक्त काशीराज का सुधार होना शक्य न होता। मगर अवधनरेश के दैवीबल से वह सुधर गया। उस दैवीबल को अपना लेने से काशीराज भी प्रजावत्सल राजा बन गया। ससार मे आसुरीबल भी है और दैवीबल भी है। आसुरीबल आसुरी प्रकृति को बढाता है और दैवीबल दैवी प्रकृति को उत्तेजित करता है। विचार करने पर विदित होगा कि इन दोनो मे दैवीबल ही महान् है, मगलकारी है। मानव-समाज के कल्याण के लिए उसकी बहुत आवश्यकता है। दैवी-प्रकृति किसे कहते हैं, इस सबध में कहा है—

अभय सत्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोग व्यवस्थितिः।

दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ।
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूते ष्वलोलुप्त्व मार्दव ह्रीरचापलम् ।
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति सम्पद दैवीमभिजातस्य भारत ।
गीता, अ० १-५,

यह दैवी-सम्पत्ति है। जिसके सस्कार अच्छे होते हैं, उसी को यह सम्पत्ति मिलती है। भगवान् ऋषभदेव ने अपने पुत्रो को इसी सम्पत्ति का बल दिया था। यही सम्पत्ति व्यक्ति को सुखी, समृद्ध और भाग्यशाली बनाती है। अगर आप अपने जीवन को सफल बनाना चाहते हैं तो इस सम्पत्ति को ही प्राप्त करने का प्रयत्न कीजिए। कम से कम इतना तो अवश्य ध्यान रखिए कि इस सम्पत्ति का घात होने पर अगर भौतिक सम्पत्ति मिलती हो तो भी इस सम्पत्ति का घात मत होने दीजिए और उस भौतिक सम्पत्ति को ठुकरा दीजिए। निश्चयपूर्वक समझ लीजिए कि दैवी सम्पत्ति ससार मे अनुपम और असाधारण बल है। जिसे यह बल प्राप्त हो जाता है उसके लिए ससार में कोई भी शक्ति ऐसी नही रह जाती जो अजेय हो। इसी शक्ति से आत्मा ऊर्ध्वगामो बनता है और अनन्त कल्याण के धाम को प्राप्त करता है।

आपको जो कथा अभी सुनाई है, उस पर विचार कीजिए और सोचिये कि आप अवधनरेश की तरह अन्तिम विजय चाहते हैं या कल्पित और क्षणिक विजय के आभास को पाकर ही सतुष्ट हो जाना चाहते हैं? अगर

आप आखिरी विजय चाहते हैं तो सादगी को अपनाइये और दैवीबल प्राप्त कीजिये। कभी मनुष्यत्व से नीचे मत गिरिये। निरन्तर प्रयत्न कीजिये कि आपकी आत्मा उन्नत, उज्ज्वल और निर्विकार बनती जाय। ऐसा करने से आपका कल्याण होगा।

कठिन कर्म

चन्द्रप्रभो ! जग जीवन अन्तर्यामी ।

यह भगवान् चन्द्रप्रभ की प्रार्थना है। प्रार्थना करते हुए भक्त कहता है—

जय जय जगतशिरोमणि ।

हे जगत् के शिरोमणि ! हे जगदुत्कृष्ट ! तेरा जय-जयकार हो । इस कथन पर से विचार उत्पन्न होता है कि भक्त के हृदय मे यह विचार क्यो आया ? और जो जगत् का शिरोमणि है, उसका जय-जयकार करने से क्या लाभ है । इसके अतिरिक्त जो परमात्मा पूर्ण वीतराग हो चुके हैं, कृतकृत्य हो चुके हैं, समस्त प्रकृति को जीतकर जगत्–शिरोमणि बन चुके हैं, उन्हे क्या करना शेप रह गया है—किसे जीतना बाकी रहा है, जिसके लिए उनका जय-जयकार किया जाना है ।

इस प्रश्न के उत्तर मे भक्तजनो का कहना है कि जिन्होने पूर्ण विजय प्राप्त कर ली है, जिन्होने पूर्णता प्राप्त कर ली है, उन्ही की जय मनानी चाहिए । उन्ही की जय से ससार का कल्याण हो सकता है । वल्कि उन्ही की जय मे ससार का कल्याण छिपा हुआ है । घड़ा जव तक

कच्चा है तब तक उससे किसी का लाभ नही होता । वह जल को धारण नही कर सकता और किसी की प्यास नही बुझा सकता । रसोई जब तक कच्ची है, तब तक किसी की भूख नही मिटा सकती, पक जाने पर वह भूख मिटाती है और इस प्रकार दूसरो का कल्याण करती है ।

मतलब यह है कि जो वस्तु पूर्णता को प्राप्त हो जाती है, वही दूसरो का कल्याण कर सकती है । परमात्मा के सबध मे भी यही बात है । वह भी पूर्णता को पहुच चुका है । पूर्णता प्राप्त करने के कारण ही उसका जयजयकार हुआ है और इसी कारण उसके निमित्त से दूसरो का कल्याण होता है । अतएव भक्तजन परमात्मा के विषय मे कहते हैं हे जगत्-शिरोमणि ! तेरी जय हो ।

जो पूर्णता पर पहुंच जाता है वह दूसरो का कल्याण किस प्रकार कर सकता है, यह जानने के लिए अक्षर को देखो । सामने किसी अक्षर को आदर्श रखकर, उसे देख-देख कर उसी सरीखा अक्षर बनाने का प्रयत्न किया जाता है । यद्यपि दूसरा अक्षर बनाने मे, उस पहले अक्षर ने कुछ नही किया है, फिर भी उसे देखकर—उसे आदर्श मानकर ही दूसरा अक्षर बनाया गया है । इस प्रकार यह समझना कठिन नही है कि जैसे आदर्श अक्षर को देखकर दूसरा वैसा ही अक्षर बनाया जा सकता है, इसी प्रकार जो पूर्ण है वही दूसरे को पूर्ण बना सकता है । जिस प्रकार पूर्ण अक्षर दूसरा पूर्ण अक्षर बनाने में सहायक होकर उपकार करता है, उसी प्रकार परमात्मा भी पूर्णता पर पहुच चुका है, और वह हमे पूर्ण पुरुष बनाने मे समर्थ है । यद्यपि

आदर्श अक्षर को दूसरे बनाने वाले अक्षर से कुछ भी लेना-देना नही है, उसी प्रकार परमात्मा को भी ससार से कुछ लेना-देना नही है। ससार से उसका कोई सरोकार नही है। फिर भी वह पूर्ण पुरुष ससार के जीवो को पूर्णता दिलाने मे समर्थ है। वह पूर्णता प्राप्त करने मे सहायक होता है। इसी कारण उसका जयजयकार किया जाता है। इसीलिए भक्तजन कहते है—

जय जय जगत—शिरोमणि !

परमात्मा कृतकृत्य हो चुके हैं। उन्होने चरम विजय प्राप्त कर ली है। हमारे जयजयकार करने से परमात्मा की जय नही होती है। फिर भी परमात्मा की जय चाहना अपनी नम्रता प्रकट करना है। इस प्रकार कहकर भक्त लोग आगे कहते हैं—प्रभो ! यद्यपि तू पूर्ण है। तू ने सर्वोत्कृष्ट विजय प्राप्त कर ली है। लेकिन अभी तक तुझसे दूर पडा हूं। इसका कारण मेरा भ्रम ही है। मैं सोचता हू कि परमात्मा क्या करता है ! मैं स्वय कमाता हू और स्वय खाता हूं ! इसमे परमात्मा का क्या उपकार है ? इस प्रकार के भ्रमपूर्ण विचार के कारण ही मैं तुझसे दूर पडा हूं। लेकिन अब मुझे यह विचार आ रहा है कि जिन विषयभोगो के भ्रमजाल मे पडकर मैं परमात्मा को भूल रहा हू उन विषयो से मुझे कभी तृप्ति नही हो सकती। उदाहरणार्थ कल पेट भर भोजन किया था, लेकिन आज फिर भोजन करना पडेगा ! ससार के अन्य पदार्थों के विषय मे भी ऐसी ही बात है। ससार मे कोई पदार्थ ऐसा नही जिसे आत्मा ने न भोगा हो। प्रत्येक पदार्थ को

अनत-अनत वार आत्मा भोग चुका है। अनादिकाल से भोग भोगते भी अभी तक आत्मा तृप्त नही हुआ। अगर आत्मा को भोग भोगने से तृप्ति सभव होती तो वह कभी की हो गई होती। लेकिन तृप्ति का एक अश भी कही दृष्टिगोचर नही होता। दिन दूनी-रात चौगुनी तृष्णा बढती ही दिखाई देती है। इस तृष्णा का कही ओरछोर नही है। वह आकाश की तरह असीम और काल की तरह अनत है। तृष्णा अनन्त है और पदार्थ परिमित हैं। यह परिमित पदाथ अनन्त तृष्णा को किस प्रकार शान्त कर सकते है ? इसके अतिरिक्त एक बडी कठिनाई यह भी है कि जो भोग भोगे जाते हैं वे तृष्णा को कम करने के बदले बढाते हैं। जैसे आग मे इंधन डालने से वह बढती है, उसी प्रकार भोग भोगने से तृष्णा बढती ही चली जाती है।

हाँ, इस अनन्त तृष्णा से एक बात अवश्य मालूम पडी। यह अनन्त तृष्णा जब आत्मा की ही है तो आत्मा भी अनत होना चाहिए। तृष्णा अनत है तो जिसकी तृष्णा है, वह तृष्णा का आधारभूत आत्मा भी अनन्त अवश्य होगा। इस प्रकार तृष्णा की अनन्तता से आत्मा की अनन्तता का पता चला है। यह विप मे से भी अमृत का निकलना समझिए।

हे प्रभो ! यह भान होने पर मैंने अपनी आत्मा से कहा—हे आत्मन् ! जब तू अनन्त है तो 'अनन्त' (परमात्मा) के साथ ही अपना सबध क्यो नही जोड़ता ? तू परिमित के साथ क्यो चिपटा हुआ है ?

प्रश्न होता है कि क्या परमात्मा है, जो उसके साथ सवध जोडा जाये ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि इच्छा उसी वस्तु की होती है जिसका अस्तित्व हो। जिस वस्तु का अस्तित्व नही होता उसकी इच्छा भी नही होती। भोजन ही न होता तो उसे खाने की इच्छा कहां से आती ? इसी के अनुसार भगवान् अनन्त न होते तो उन्हे प्राप्त करने की इच्छा भी न होती। भगवान् को प्राप्त करने की इच्छा होती है, इससे स्पष्ट है कि भगवान् हैं। यह बात दूसरी है कि जिस प्रकार भोजन दूर हो और इस कारण उसे प्रयत्न के द्वारा प्राप्त करना पडे, लेकिन भूख लगने के कारण यह विश्वास तो है ही कि ससार में भोजन भी है और भोजन दूर है इस कारण वह प्रयत्न के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। जब दूर होने पर भी भोजन प्राप्त किया जा सकता है तो क्या भगवान् को प्रयत्न द्वारा प्राप्त नही किया जा सकता ? जैसे श्रमसाध्य होने पर भी भोजन मिलता है उसी प्रकार दूर होने पर भी भगवान् प्रयत्न करने से अवश्य मिलता है। अतएव जिसके अन्त.करण मे परमात्मा को प्राप्त करने की भावना जागेगी, वह परमात्मा की ओर आकर्षित होगा, उसे पाने के लिए प्रयत्न करेगा और अन्त मे उसे परमात्मा मिले विना नही रहेगा।

कल्पना करो, एक आदमी को भूख लगी है। उसे आप कितने ही प्रलोभन दें सतुष्ट करने का कितना ही प्रयत्न करें, फिर भी भोजन किये विना उसे सतोष नही होगा। भूख मिटने पर ही उसे सतोष होगा और भूख भोजन से ही मिट सकेगी। आप अपने शरीर पर लाखों

के आभूषण भले ही पहन लें, मगर भूख लगने पर वे आभूषण किस काम आएँगे ? यह बात दूसरी है कि परम्परा से आभूषणो द्वारा भोजन प्राप्त किया जा सकता है। लेकिन साक्षात् रूप से उनके द्वारा भूख नही मिट सकती। इस प्रकार भूख लगने पर आभूषण बेकार हैं और इसी कारण भूखा आदमी आभूषण पाकर सतुष्ट नही हो सकता। आभूषण पाने पर भी उसकी भूख ज्यो की त्यो बनी रहेगी और वह भोजन पाने का ही प्रयत्न करेगा।

इसी प्रकार जिस भक्त के अन्त करण मे परमात्मा प्राप्त करने की इच्छा है वह सांसारिक भोग-विलास के प्रलोभन मे पड़कर सतुष्ट नही हो सकता। बल्कि वह इस प्रलोभन मे पड़ेगा ही नही। उसे एकमात्र परमात्मा को प्राप्त करने की ही इच्छा रहेगी। परमात्मा विषयक उसकी भूख किसी भी दूसरे उपाय से नही मिटाई जा सकती।

आपके अन्त करण मे जब परमात्मा को पाने की ऐसी बलवती इच्छा जागृत हो और आपका मन भोग-विलास की तरफ न जावे और परमात्मा को ही प्राप्त करना चाहे, तब समझना चाहिये कि हमारे भीतर परमात्मा की सच्ची लगन लगी है। जिसके हृदय मे ऐसी लगन होगी उसे परमात्मा प्राप्त होगा ही।

जब तक अन्त करण मे परमात्मा को प्राप्त करने की बलवती इच्छा उत्पन्न नही हुई है, तब तक निरन्तर प्रयत्न करते रहने की आवश्यकता है। प्रयत्न से ऐसी इच्छा अवश्य उत्पन्न होगी और आत्मा सही मार्ग पर आ जायेगा। घड़ी बिगड़ जाती है या लडका बिगड़ जाता है तो उसे

सुधारने का प्रयत्न किया जाता है और सुधार हो भी जाता है। इसी आधार पर यह भी मानो कि आत्मा भी सुधर सकता है, केवल प्रयत्न करने की आवश्यकता है। सासारिक पदार्थों का सुधार कर लेना ही काफी नही है। अपनी आत्मा का सुधार करो। आत्मा का सुधार ही सच्चा सुधार है। जब आत्मा सुधर जायेगा तो उसे परमात्मा की प्राप्ति किये बिना किसी भी प्रकार सतोप नही होगा। वह पूर्ण प्रयत्न करके परमात्मा को प्राप्त करके ही दम लेगा।

आजकल के लोगो को आत्मा के सुधार के लिए किसी कठिन क्रिया के करने मे घबराहटहोती है। वे जरा-सी कठिनाई सामने आने पर हिम्मत हारने लगते हैं। मगर कठिनाई मे पडने की अनिवार्य आवश्यकता ही कहा है? ज्ञानियो ने इसके लिए बहुत ही सरल उपाय वतलाये हैं। उनके वतलाये उपाय करने से कठिनाई नही झेलनी पडती और आत्मा का सुधार भी हो जाता है। ज्ञानी-पुरुषो का कथन है कि तुम्हे जो कठिनाई दिखलाई पड़ती है, वह अज्ञान के कारण ही है। अज्ञान को दूर करदो तो कुछ भी कठिनाई नही रहेगी। शास्त्र में जो उपदेश दिया गया है वह अज्ञान मिटाने के लिए ही दिया गया है। उस उपदेश को सुनकर अज्ञान हटाओ। फिर देखोगे कि तुम्हारे आगे की सभी कठिनाइया समाप्त हो गई हैं और तुम्हारा मार्ग एकदम साफ और सुगम बन गया है।

अज्ञान के कारण अकेले बाल जीव ही नही किन्तु कभी-कभी महापुरुप भी चक्कर में पड़ जाते हैं और फिर

कोई दूसरे महापुरुष ही उन्हें ठीक रास्ते पर लाते हैं। बड़े-बड़े भी किस प्रकार चक्कर मे पड़ जाते हैं, यह बात इतिहास से मालूम हो सकती है।

पाण्डवों को कौरवो की ओर से बारह वर्ष का बनवास और एक वर्ष का अज्ञातवास दिया गया था। कौरवों का यह कार्य किसे पसद आ सकता था ? उस समय के और आजकल के सुनने वालो को भी कौरवो का यह कार्य पसद नही आता तो जिनको स्वय बनवास का कष्ट भुगतना पड़ा, उन्हे वह कैसे पसद आता ? पाण्डवो में सिर्फ युधिष्ठर ही ऐसे थे जिन्हे धर्म पर पूरा विश्वास था और इस कारण वे बनवास से नही घबराये थे। उनके चारो भाई और द्रौपदी घबरा उठी थी। इनका कहना था कि हम मे शक्ति मौजूद है, फिर बनवास के दुख भोगने की क्या आवश्यकता है ? अर्जुन कहते थे—'दुर्योधन मेरे एक ही बाण का है।' भीम गरज कर कहता था—'दुर्योधन किस गिनती मे है ? मैं अपनी गदा से उसकी चटनी बना सकता हू।' सच पूछो तो अर्जुन और भीम सरीखे वीरो का सामना करना कोई मामूली बात नही थी। दुर्योधन की क्या मजाल थी कि वह इनका सामना करके विजयी होता! इस प्रकार शक्तिशाली होते हुए भी वनवास का कष्ट भोगना उनको समझ मे उचित नही था। उनके इस प्रकार समझने और कहने पर भी युधिष्ठर वनवास भोगना क्यो उचित समझते थे ? उनके वनवास भोगने मे क्या रहस्य था ? गहरा विचार करने पर ही इस रहस्य का पता लग सकता है।

महाभारत के अनुसार जब पाण्डवों को बनवास दिया गया था और द्रौपदी को नग्न करने का प्रयास किया गया था, उस समय कृष्ण द्वारिका में नही थे। वे कही बाहर गये हुए थे। कृष्ण जब लौटकर द्वारिका पहुंचे तो वहां के वृद्धजन रो-रोकर कहने लगे—पांडवो पर बडी कड़ी मुसीबत आ पडी है और वे बनवास भोग रहे हैं। सरल हृदय पाडव ऐसी विपदा मे हैं कि कुछ कहा नही जा सकता। वे वीर हैं और सज्जन हैं। लेकिन दुष्ट कौरवो ने उन पर भीषण अत्याचार किया है। यहा तक कि द्रौपदी को भरी सभा मे नग्न करने का भी उन्होने प्रयत्न किया। भले ही उनका प्रयत्न सफल नही हुआ फिर भी इससे उनकी दुर्भावना कम नही हो सकती। पाडवो को बनवास स्वीकार करना पड़ा है!

कृष्ण ने पाण्डवो के वन जाने का समाचार सुनकर पूछा— पाण्डवों का ऐसा क्या अपराध था, जिसके कारण उन्हे वन जाना पड़ा और द्रौपदी की दुर्गति हुई? वृद्धजनो ने उत्तर दिया—अन्याय के सामने अपराध होने या न होने का प्रश्न ही कहा उठता है? जिसे अन्याय करना है, अपना स्वार्थ साधना है, वह यह कब देखता है इसने अन्याय किया है या नही किया है?

कृष्ण ने पूछा—इस समय वे कहां है?

वृद्धजन- वन में वनवासी लोगो की तरह भटकते फिरते हैं।

यह कथन सुनकर कृष्णजी कुछ मुसकराये। वृद्धजनो की समझ में नही आया कि कृष्णजी दुःखी होने के बदले

मुसकराते क्यों है ? उन्होने कहा—क्या कारण है कि आप पाण्डवों की दुर्दशा की कथा सुनकर मुसकरा रहे है ?

कृष्ण–मेरी मुसकराहट का कारण आप लोग नही जानते। मगर समय आने पर आप जान जायेंगे। इस समय मैं पाडवो से मिलना चाहता हू। सुख के समय चाहे न भी मिलता लेकिन दुख के समय मिलना ही चाहिए।

कृष्ण रथ पर सवार होकर खाडव वन गये। वहा द्रौपदी सहित पाडव पर्णकुटी बनाकर रहते थे। कृष्ण पहुचे। पाडवो के पास उस समय स्वागत के योग्य कोई विशिष्ट सामग्री नही थी, तथापि स्नेह और श्रद्धा से परिपूर्ण हृदय उनके पास था और उदार आशय वाले पुरुषो के लिए यही पर्याप्त होता है। विवेकशील पुरुष द्रव्य की अपेक्षा भाव को ही प्रधानता देते हैं। कृष्णजी प्रेम के साथ बिछाई गई चटाई पर आसीन हुए। कृष्णजी के वैठ जाने पर आस-पास पाण्डव भी बैठ गये और तनिक दूरी पर द्रौपदी भी बैठी।

कृष्णजी बड कुशल थे। उन्होने पाण्डवो और द्रौपदी के चेहरो पर एक उडती निगाह डाली और समझ गये कि, द्रौपदी की दृष्टि मे उग्रता है। यह देख कर उन्होने सर्व-प्रथम द्रौपदी से ही प्रश्न किया—'कृष्णा! आनन्द मे तो हो ?'

द्रौपदी राजकुमारी थी। बाल्यकाल से ही वह सुखों मे रही और उसने कभी नही जाना था कि दुख किस चिड़िया का नाम है। वह राजसी भोग भोगती थी और राजसी भोजन मे रुचि रखती थी मगर दुर्योधन के प्रपच

मे पडकर इन दिनो वह बहुत परेशान हो उठी थी । आज वह नगर छोडकर जगल मे और महल छोड़कर झोपड़ो मे रहती है । पट्रस व्यजन के बदले उसे जगल के फल-फूलो पर निर्वाह करना पडता है । आज उसे किसी भी प्रकार की सुख-सुविधा नही है । उसे लगता है, मानो उसके जीते जी ही जीवन बदल गया है ! यह सब जानते हुए भी कृष्णजी उससे पूछ रहे हैं— 'कृष्णा आनन्द मे तो हो ?' आखिर इस प्रश्न का रहस्य क्या है ? इस रहस्य का पता उन्ही से लग सकता है ।

प्रश्न के उत्तर मे द्रौपदी कहने लगी— कृष्णजी ! आपने मुझे अपनी बहिन बनाया है । लेकिन आपकी इस बहिन की आजकल क्या दशा हो रही है यह तो आप प्रत्यक्ष देख रहे हैं । आपकी बहिन की जैसी दुर्दशा हुई है वैसी शायद किसी की न हुई होगी । दुष्ट कौरवो ने मेरी ऐसी दशा की है कि कहा नही जा सकता । भरी सभा में उन्होने मेरी लाज छीन लेनी चाही । वे मुझे नग्न करना चाहते थे, मगर न जाने किस अदृश्य शक्ति ने मेरी रक्षा की । मैं सर्वथा निर्दोष थी और हू । फिर भी पापी दुशासन मुझे महल मे से सभा मे खीच लाया । उसने मेरे सिर के केश पकड कर खीचे हैं और इस प्रकार मेरे केशो को मलीन कर दिया है । राजसभा मे साधारण कुल की स्त्री भी नही बुलाई जाती और केश तो किसी के खीचे ही नही जाते । मगर आपकी बहिन के साथ यह सब दुर्व्यवहार किया गया । मैंने सभा मे प्रश्न किया था— आप सभा मे उपस्थित गुरुजन मेरे लिए पूज्य हैं । इसलिए मैं आपसे पूछती हूं कि धर्मराज पहले अपने आपको हारे

हैं या पहले मुझे हारे हैं ? अगर वे पहले मुझे हार गये हो तब तो कुछ कहने की गुंजाइश ही नही रहती। अगर ऐसा नही है तो मेरे साथ यह अन्याय क्यो किया जाता है ? सभा मे उपस्थित लोगो को भली-भांति मालूम था कि धर्मराज पहले अपने को हार चुके थे, फिर भी किसी ने मेरे प्रश्न का उत्तर नही दिया। सब के सब सोठ होकर बैठे रहे, मानों सब की जीभ पर ताला लगा हो। किसी ने मुँह खोलने का साहस नही किया। अलबत्ता एक वीर युवक उस समय अवश्य बोला था, मगर उसे कौरवो ने सभा से बाहर निकाल दिया।

मेरे प्रश्न को सुनकर दुर्योधन कुछ देर के लिए हत-प्रभ हो गया था। वह न्याययुक्त तरीके से उसका प्रतिकार करने मे असमर्थ था। अतएव वह और क्रुद्ध हो गया और दुश्शासन से कहने लगा—इस कानून बघारने वाली का मुख बद करदे ! अब आप बतलाइए, किसी का इस प्रकार बलात् मुख बद कर देना क्या उचित कहा जा सकता है ? दुश्शासन मेरा वस्त्र खीचने लगा। मैंने वहा उपस्थित सब लोगों से उस भयकर अन्याय को रोकने की प्रार्थना की। मगर किसी के कान पर जू न रेंगी। सभी कानो मे तेल डाले, प्रतिमा की तरह चुपचाप बैठे रहे।

अन्याय, अत्याचार और उपेक्षा का यह दृश्य देखकर मुझे बडी निराशा हुई। तब मैंने विचार किया दूसरे लोग चुप हैं तो रहे, यह पाचो भाई क्या कम है ? अगर इन्हे तो आवेश आयेगा ही। यह सोचकर मैंने अत्यन्त करुण शब्दो मे इन सबसे कहा—यह मेरी नही, तुम्हारी

लाज जा रही है। इस कारण मेरी रक्षा करो। मेरी करुण पुकार सुनकर भीम और अर्जुन उठे भी, मगर धर्मराज ने बाह पकडकर दोनों को फिर बंठा दिया। तब मैंने सोचा—'वास्तव मे कोई किसी का नही है।'

हे कृष्ण! मैं सोचती हूं, आप वहा होते तो मेरी रक्षा अवश्य करते। परन्तु दुर्दैव से आप वहा मौजूद नहीं थे। अतएव मैंने परमात्मा का स्मरण करके कहा—'प्रभो! मैं तेरी शरण हूं।' इस प्रकार मन ही मन प्रार्थना करके मैंने अपना मन परमात्मा मे लगा दिया। उस समय शरार पर से भी मैंने ममता हटा ली। मैं अपनी शक्ति भर प्रयत्न कर चुकी थी। पितामह भीष्म जैसे आदर्श पुरुष भी वहां मौजूद थे और पतिदेव भी चुपचाप बैठे थे। तव अकेली मैं क्या कर सकती थी? इस प्रकार सोचकर मैंने शरीर का ममत्व त्याग दिया। शरीर पर से ममत्व त्याग देने के पश्चात् क्या हुआ, यह मुझे मालूम नही लेकिन मैंने सुना है कि उस समय मेरे शरीर के वस्त्र इतने वढ गये थे कि दुश्शासन खीचते-खीचते थक गया था, पर वह मुझे नग्न नही कर सका। साथ ही सभा मे वहुत क्रान्ति हुई। उस समय मैंने अन्धराज को यह कहते सुना—'हे कुलवधू! क्षमा करो।' यह आवाज सुनकर मैं अपने आपे मे आई। उस समय मैंने देखा कि सभा मे केवल धृतराष्ट्र ही हैं, और कोई नही है। वे कह रहे हैं–हे कुलवधू! मेरे पापी पुत्रो को क्षमा करो। मैं तुमसे क्षमा मागता हूं। मैंने उनसे कहा - आप मेरे पूज्य हैं। मैं ही आपसे क्षमा मागती हूं।

इतना कहकर द्रौपदी ने एक लम्वी सांस ली। फिर

उसने कहा—हे भाई ! मेरे लिए वह समय कितने कष्ट का था । मुझे कितना कष्ट सहन करना पडा है, किस प्रकार घोर अपमान सहना पडा है ! क्या यह आपके लिए भी लज्जा की बात नही है ?

द्रौपदी की यह बात सुनकर कृष्ण हस पड़े । द्रौपदी के विषाद का पार न रहा । वह समझती थी कि मेरी कष्ट-कथा सुनकर कृष्णजी सहानुभूति प्रकट करेंगे और दु ख के आसू बहाएगे । मगर कृष्णजी की हंसी ने उसकी धारणा को नष्ट कर दिया । वह तिलमिला उठी । बोली—मेरे दारुण दुःख की कहानी क्या आपने अपने मनोरजन के लिए ही सुनी है ?

कृष्णजी ने कहा–बहिन ! तुझे नही मालूम कि मैं क्यो हसा हू । तुझे यह भी पता नही कि इतने कष्ट आने का कारण क्या है !

द्रौपदी—क्या इसमे भी कोई रहस्य है ?

कृष्ण—हा !

इसके बाद कृष्ण बोले—किसी साधारण स्त्री को कष्ट हो और वह रोवे तो उसका रोना अनुचित नही कहा जा सकता । मगर तुम्हारा रोना उचित नही है । तुम्हे विचार करना चाहिए कि तुम्हारे कष्टो का कारण क्या है ? तुम जैसी महिला को भी कष्ट न हो और तुम्हारी सरीखी महिला अगर उन कष्टो को सहन न कर ले तो जगत् का उद्धार कैसे हो सकता है ? लोग अकसर दु ख आ पड़ने पर घबडा जाते हैं, मगर यह नही सोचते कि

इनके पीछे क्या रहस्य छिपा हुआ है ! दुखो के पीछे रहे हुए रहस्य का विचार करके मनुष्य को धैर्य रखना चाहिए। तुम दु.खों से घबरा रही हो, मगर दुख ही तो सुख का बीज है। तुम्हारे इन दुखों मे ही जगत् का कल्याण छिपा है। तुम अपना दुख देखती हो किन्तु उसके भीतर छिपा कल्याण नही देखती। दुर्योधन पर मुझे किसी प्रकार कोप नही है। मैं सिर्फ यह कहता हूं कि वह मदोन्मत है। उसके पापो का घडा तुम्हारे साथ घोर अन्याय करने से भर गया है। वह तलवार के बल पर सबके ऊपर शासन करना चाहता है। अगर दुर्योधन सब के हृदय मे बैठना चाहता तब तो कोई झंझट न होता। इस स्थिति मे उसका व्यवहार इससे उलटा ही होता। मगर वह हृदय मे नही बैठना चाहता—सिर पर सवार होना चाहता है। उसके द्वारा तुम्हे कष्ट क्यो सहन करने पडे और धर्मराज ने तुम्हे इन कष्टो से क्यो नही बचाया, यह तुम नही जानती। इसी कारण तुम दुख मान रही हो। उस समय मैं वहा नही था। कदाचित होता भी तो चुपचाप धर्मराज के पास बैठा रहता और तुम्हे कष्ट से बचाने का प्रयत्न न करता।

द्रौपदी—आह ! क्या आप भी मेरा घोर अपमान बैठ-बैठे देखते रहते ?

कृष्ण—बहिन ! जिसे तुम अपमान कहती हो, उसे अगर मैं भी अपमान समझता तो हर्गिज चुपचाप सहन न करता। तुम जानती नही हो, इसी कारण उक्त घटनाओ को अपना अपमान समझती हो और दु.ख मानती हो। जब रहस्य को जान जाओगी तो वे घटनाएं न अपमान

जान पडेंगी और न उनके कारण दु ख ही मनाओगी।

मित्रो ! दु ख तो कभी-कभी आपके माथे पर भी आ पडता होगा, मगर मनुष्य को उससे घबराना नही चाहिए। दु ख अगर बीमारी है तो घबराहट उसकी दवा हर्गिज नहीं है। घबराहट दु ख को कई गुना बढा सकती है, घटा नही सकती। अतएव दु ख आने पर धीरज और हिम्मत के साथ उसका सामना करना चाहिए। हिम्मत के साथ उसे पचा लेना चाहिए। गरिष्ठ भोजन, पचाने की शक्ति रखनेवालो को बल प्रदान करता है और जिनमे पचाने की शक्ति नही है, उन्हे अधिक निर्बल बनाता है। यही बात दु ख के सम्बन्ध मे है। दु ख किसी को सबल बनाता है, किसी को निर्बल बनाता है। धैर्य रख कर जो दु ख को पचा लेता है वह सबल बन जाता है। जो दु ख पड़ने पर हिम्मत हार बैठता है, रोता-झीकता है और दीनता धारण कर लेता है, वह और अधिक दुर्बल बन जाता है।

दु ख आने पर विचार करो कि मैं कौन हूं ? मैं उन भगवान् महावीर का शिष्य हू, जो इन्द्रो द्वारा पूजनीय थे, फिर भी जिनके कानों मे कीलें ठोके गये थे, जिनके ऊपर कुत्त छोड गये थे ! लेकिन भगवान् ने इन दु खो की तनिक भी परवाह नही की थी। मैं उन महाप्रभु महावीर का शिष्य होकर भी क्या दु खो के समय रोने बैठू ? इस प्रकार सोचकर फिर विचारना चाहिए-मुझे दु ख क्यो हो रहा है, यह मैं नही जानता। इसके पीछे क्या रहस्य छिपा है, यह भी मुझे नही मालूम। लेकिन यह निश्चित है कि इसमे रहस्य है। मुझे दु ख से घबराना

नही चाहिए— धैर्यपूर्वक उसे सहन करना चाहिए। इस प्रकार विचार कर जो पुरुष दुःख के समय दृढता रखता है और विषाद नही करता उसकी आत्मा का कल्याण होता है।

जब श्रीकृष्ण, द्रौपदी से इस प्रकार कह रहे थे, तब भीम ने बीच मे टोक कर उनसे कहा—आपका कथन यथार्थ है पर उन अंधे के कपूतो को उस समय जरा भी औचित्य का ध्यान नही रहा! क्या यह विचारणीय बात नही है? उस घटना के लिए हम लोगो को लज्जित नही होना चाहिए?

भीम की क्रोध से भरी बात सुनकर श्री कृष्ण उनकी ओर मुडे और कहने लगे—भीम, द्रौपदी की अपेक्षा तुम्हे समझाना कठिन है। तुम्हे अपने बल का अभिमान है और जिसे अभिमान होता है उसे समझाना कठिन होता है। तुम जो कह रहे हो सो अपने स्वभाव के अनुसार कह रहे हो। पर यह तो सोचो कि दुर्योधन ने सब के सामने द्रौपदी को क्यो नग्न करना चाहा था? इसका कारण यही था कि उसके पापो का घडा भर चुका था और अब उसका भडाफोड होना लाजिमी था। उसका पाप इतना बढ गया था कि वह प्रकट हुए बिना रह ही नही सकता था। उसने पहले जो कुछ किया था वह छिप कर और प्रकट मे हितैषी बनकर किया था। लेकिन इस कृत्य ने उसके पापो को प्रकट कर दिया है। अब सभी जान गये हैं कि दुर्योधन कितना अन्यायी और पापी है। द्रौपदी को नग्न करने की घटना को सुनकर कौरवो के शत्रुओ को तो

घृणा हुई ही है, साथ में उनके मित्रो को भी कम घृणा नही हुई है। दुर्योधन के हितैषी भी उसके इस अपराध के कारण उस पर रुष्ट हो गये हैं। इस प्रकार उसका पाप चरम सीमा पर पहुच गया है और उसकी स्थिति बहुत कमजोर हो गई है। इस घटना ने तुम्हारा महत्व बढाया है और कौरवो का पाप बढाया है। लाखो उपाय करने पर भी जगत् से जो सत्कार तुम्हे नही मिल सकता था, वह सत्कार इस घटना से मिल गया है। भले दुर्योधन तुम लोगो की निन्दा और अपनी प्रशसा करता फिरे, मगर अब उसका प्रयत्न निष्फल ही होगा। इस घटना के कारण वह तुम्हारी निन्दा फैलाने मे असमर्थ हो गया है। इस प्रकार जो कुछ हुआ है उसके लिए शोक और परिताप मत करो। तुम्हारे हक में अच्छा ही हुआ है। तुम्हे प्रसन्न रहना चाहिए।

तुम यह सोचकर लज्जित होते हो कि हम लोग द्रौपदी का अपमान चुपचाप देखते रहे और कुछ बोले नही। पर तुम्हारा यह सोचना उचित नही है। तुम्हारी क्षमा ने ही इस घटना का मूल्य बढाया है। मैं मानता हू कि तुम वीर हो और तुम्हारी भुजाओ मे असीम बल है, फिर भी उस समय होने वाले अपमान को तुम रोक नही सकते थे। कदाचित् रोक देते तो भी आज तुम्हारी स्थिति जितनी मजबूत है उतनी न होती। द्रौपदी की लाज तो रह ही गई, मगर तुम्हारी शान्ति ने घटना के स्वरूप को एकदम बदल दिया है। जिन घटनाओ के कारण तुम दुख मना रहे हो, उनके पीछे क्या रहस्य है, यह तुम्हे नही मालूम। अदृष्ट पर्दे की ओट मे क्या खेल खेल रहा है, दैव का क्या

विधान है और किस योजना से उसकी पूर्ति होती है, यह समझना सर्वसाधारण के लिए सरल नहीं है। इस घटना के रहस्य को मैं जानता हूं या युधिष्ठिर जानते हैं।'

अन्त मे द्रौपदी ने कहा था–कुछ भी हो, यह तो स्पष्ट है कि दुर्योधन महल में मौज करता है और हम लोग यहाँ वन मे कष्ट भोग रहे हैं।

तब श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया तुम फिर भूल कर रही हो। दुर्योधन राजमहल की रगड से क्षीण हो रहा है और पाण्डव वन मे विकसित हो रहे है और बलवान् बन रहे हैं। इस बात को तुम क्यो भूल रही हो? यो मैं तुम्हारी सहायता कर सकता हूं। तुम सब को वन मे से द्वारिका ले जा सकता हूं। द्वारिका के राजमहलो मे तुम्हारे योग्य पर्याप्त स्थान है। लेकिन ऐसा करना मैं उचित नही समझता। पाण्डवो के इस वनवास को मैं कष्ट नही समझता वरन् तप समझता हूं। अतएव उचित यही है कि तुम सब वन मे रहकर धैर्यपूर्वक तप करो। इसका परिणाम निश्चित रूप से अच्छा ही होगा।

कृष्णजी के इस कथन का भाव स्पष्ट है। इस कथानक का विस्तार न करते हुए सिर्फ इतना ही कहना चाहता हू कि जब किसी प्रकार का दुःख या सकट आ पड़े तो उसे शान्तिपूर्वक सहन करना ही योग्य है। ऐसे विकट समय मे आत्मविस्मृत हो जाना उचित नही है। कष्ट जीवन की कसौटी है। माथे पर चढे हुए ऋण का बोझ है। मगर वह बोझ उतर जाने पर आत्मा उसी समय हल्का होता है जब समभाव से, शान्त चित्त से, कष्ट सहन

किये जाते हैं । चित्त मे शान्ति और समता न रही तो कषाय का उद्रेक होगा और उस अवस्था मे बोझ घटने के बदले बढ जायेगा । जरा विचार कर देखोगे तो स्पष्ट मालूम होगा कि रोने-चिल्लाने से कुछ भी तो लाभ नही होता । ऐसा करने से कष्ट कुछ कम तो हो नही जाते, उलटे असह्य मालूम होने लगते है और भविष्य भो बिगड जाता है । कष्ट और सकट आने पर अगर दृढता और वीरता के साथ उन्हे सहन किया जाये तो दु ख का अनुभव होगा ही नही. अगर हुआ भी ता अपेक्षाकृत बहुत कम होगा । सकट आने पर दीन दुःखो बन जाना सकट से पराजित होना है और दृढता रखना सकट पर विजय पाना है । वीर और विवेकी पुरुषो को दीनता धारण करना शोभा नही देता । जिसने धर्म का श्रवण और मनन किया है वह सकटो से नही घबराता । वह सकटो को चुनौती देकर कहता है—'आ, तू अपनी शक्ति आजमा देख । अन्त मे तुझे पराजित होना पडेगा । आत्मा की शक्ति के सामने तू नाचीज है ।' इस प्रकार की दृढता धारण करते ही सकट आधा रह जाता है ।

कातर मनोवृत्ति के लोग जरा-सा सकट आते ही घबरा जाते है । उन बेचारो को मालूम ही नही है कि उनको कातर मनोवृत्ति ही सकट को कई गुना बढा रही है । ऐसे लोग धर्म पर ही अश्रद्धा करने लगते है । इस प्रकार की दुर्बल मनोवृत्ति वालो का साहस नष्ट हो जाता है । यहा तक कि उन्हे ऐसी वस्तुएँ त्यागना भी कठिन हो जाता है, जिनका सेवन करने से महान् पाप होता है । उदाहरणार्थ आपसे विदेशी शक्कर और मिल के चर्बी वाले

वस्त्र त्यागने के लिए कहा जाता है, लेकिन आप मे से कितनों ने त्याग किया है ? यह मनोवृत्ति की दुर्बलता ही है।

खादी पहनने में भले ही कष्ट प्रतीत होता हो, मगर ऐसा कष्ट सहना भी एक प्रकार का तप है। इसे समझो और चर्वी के वस्त्र त्यागो सत्य को समझकर भी आंख-मिचौनी करना ठीक नही है। जिसे धर्म प्यारा होगा वह निश्चय करेगा ही कि जिस भोजन और वस्त्र से आत्मा का पतन होता है, वह भोजन और वस्त्र मेरे काम का नही है। इस प्रकार अपनी श्रद्धा को व्यवहार मे लाने वाला ही सच्चा धर्मात्मा कहलाता है। जिसकी धर्ममय श्रद्धा और जिसका आचार एकरूप हो जाता है वह पुरुष भाग्यशाली है। वही परमात्मा का प्यारा है। वही सच्चा भक्त है और उसी की परमात्म—प्रार्थना वास्तविक है। वही पुरुष कल्याण का वरण करता है।

सच्ची दया

जीव रे ! तू पार्श्व जिनेश्वर वन्द ।

यह भगवान् पार्श्वनाथ की प्रार्थना है । इस प्रार्थना की कडिया सरल हैं और इसके भाव स्पष्ट हैं । लेकिन मनन करने पर इसमे गभीर बातें दिखाई देती हैं । यह तो आप जानते ही हैं कि सादी बातो मे भी गभीर भाव छिपे रहते हैं । इस प्रार्थना मे भी एक गभीर बात की सूचना का गई है ।

कहा जा सकता है कि जब आत्मा का ही बोध करने की आवश्यकता है तो भगवान् पार्श्वनाथ की शरण मे जाने से क्या लाभ है ? इस कथन के उत्तर मे ज्ञानीजनो का कहना है कि आखों में ज्योति होने पर भी सूर्य की शरण लेनी ही पडती है । अगर सूर्य की या किसी दूसरे प्रकाश की शरण न ली जाये तो आँखो मे ज्योति होने पर भी कुछ दिखाई नही देता । आँखो मे ज्योति होने पर भी सूर्य की शरण मे जाना पड़ता है, इसका कारण यह है कि आखो मे अपूर्णता है । आखों की अपूर्णता के कारण सूर्य की सहायता लिये बिना काम नही चलता । इसी तरह आत्मा भी अपूर्ण है । आत्मा मे अभी ऐसी शक्ति नही है कि वह स्वतत्र रूप से अपना वोध कर

सके । अतएव जिस तरह आँखो की अपूर्णता के कारण सूर्य का आश्रय लिया जाता है, उसी प्रकार आत्मा मे अपूर्णता होने के कारण परमात्मा की सहायता ली जाती है । स्तुतिकार कहते हैं—

सूर्यातिशायि महिमाऽसि मुनीन्द्र ! लोके ।

अर्थात्—हे मुनियो के नाथ ! आपकी महिमा सूर्य से भी बढकर है ।

इस प्रकार अनन्त सूर्यों से भी बढकर भगवान पार्श्वनाथ है, उनकी सहायता आत्मा के उत्कर्ष के लिए अपेक्षित है । भगवान् पार्श्वनाथ की शरण मे गये बिना आत्मा का बोध नही हो सकता । जो अपनी इस वास्तविक कमजोरी को जानता होगा और अपनी कमजोरी से डरा होगा, वह पार्श्वनाथ की शरण में गये बिना नही रहेगा ।

कोई कह सकता है–जब आत्मा का उत्कर्ष करने के लिए भगवान् पार्श्वनाथ की शरण में जाने की आवश्यकता अनिवार्य है और शरण मे गये बिना काम चल ही नही सकता, तब फिर पार्श्वनाथ की ही शरण मे जाना चाहिए। ऐसी स्थिति मे आत्मा का बोध प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करने की क्या आवश्यकता है ?

इस प्रश्न का समाधान यह है कि अन्धे के लिये लाखो सूर्य भी किस काम के ? सूर्य से वही व्यक्ति लाभ उठा सकता है जो स्वय आख वाला है । सूर्य का प्रकाश फैला होने पर भी अगर कोई अपनी आख मूंदे रखता है तो वह सूर्य से कोई लाभ नही उठा सकता । इस प्रकार

भगवान् की शरण मे जाने पर भी आत्मबोध की आवश्यकता है। जो अपनी आत्मा का उत्कर्ष साधना चाहता है उसे आत्मबोध भी प्राप्त करना होगा और ईश्वर की शरण भी लेनी होगी। आत्मदृष्टि के बिना भगवान् की शरण मे जाना अन्धे का सूर्य की शरण मे जाने के समान है। अतएव भगवान् की शरण गहने के साथ-साथ आत्मबोध प्राप्त करना भी आवश्यक है।

पूर्वकृत कर्मों का कुछ क्षयोपशम होने से ही हम लोग भगवान् पार्श्वनाथ के समीप हुए है। भगवान् पार्श्वनाथ को शास्त्र मे 'पुरुषादानी पार्श्वनाथ' कहा है। इस प्रकार जगत् मे उनकी बड़ी ख्याति है। बल्कि बहुत लोग तो जैनधर्म को पारसनाथ का ही धर्म समझते है। वे जैनधर्म के अनुयायियो को पारसनाथ का चेला कहते हैं। अगर हम भगवान् पार्श्वनाथ का चेला कहलाने मे अपना गौरव समझते है तो हमे विचार करना चाहिए कि उन्होने अपने जीवन में ऐसा कौन-सा कर्त्तव्य किया था, जिसके कारण उनकी इतनी ख्याति हुई ? और हम लोग जब उनके चेले है तो हमें क्या करना चाहिए ? भगवान् ने अपनी ख्याति फैलाने के लिए न किसी की गुलामी की थी और न किसी को यह प्रेरणा ही की थी कि तुम हमारी प्रशसा करो। ऐसा करने से ख्याति फैलती भी नही है। तो फिर भगवान् ने क्या किया था ? यह विचारणीय बात है। इस जगत् पर भगवान् पार्श्वनाथ का अनन्त उपकार है। इसी कारण जगत् के लोग उन्हे मानते हैं। उनमें अनन्त, असीम-करुणा थी। ससार का यह रिवाज ही है कि जो वस्तु इष्ट होती है, उसे प्राप्त कराने वाले को बहुत चाहा

जाता है। इसके अतिरिक्त मनुष्य की अच्छाई का असर भी दूसरो पर पडता है। अच्छे रत्न का प्रभाव सारे जगत पर पडे विना नही रहता। भगवान् पार्श्वनाथ ने जगत को वही मूल्यवान् वस्तु का उपहार प्रदान किया था, जिसकी उसे अत्यन्त आवश्यकता थी और जिसके अभाव में जगत व्याकुल, दु खपूर्ण और अशान्त था। भगवान् पार्श्वनाथ ने जगत को वे गुण वतलाये जिनसे जगत का कल्याण होता है। भगवान् ने जिन गुणो से विश्व का कल्याण होते देखा, उन्ही गुणों को अपनाने के लिए जोर दिया और उनके भक्तो ने वे गुग अपनाए। भक्तो के इस कार्य से भगवान् पार्श्वनाथ अधिक प्रसिद्ध हुए। भगवान् को वस्तुत भक्त ही प्रसिद्ध करते हैं और भक्त ही वदनाम भी करते है। इस तथ्य को समझ लेने के पश्चात् हम सवको अपना कर्त्तव्य स्थिर करना चाहिए।

भगवान् पार्श्वनाथ के चरित्र मे एक वड़ी वात देखी जाती है। मैंने अनेक महापुरुषो के जीवनचरित देखे हैं और उनमें भी वह बात पाई जाती हैं। जिन्हे लोग महापुरुष मानते हैं उनकी जीवनी में यह वात प्राय. देखी जाती है। साधारण लोग साप को जहरीला कहकर उसके प्रति क्रूरतापूर्ण व्यवहार करते हैं लेकिन महापुरुष सा१ पर भी अपना प्रभाव डालते हैं। भगवान् महावीर ने चडकौशिक साप का उद्धार किया था, यह बात तो प्रसिद्ध ही है। कृष्ण के जीवन चरित्र मे भी सांप का सवध पाया जाता है। मुहम्मद साहव के चरित्र मे भी साप का वर्णन आया है। इसी प्रकार ईसा के चरित्र में भी सांप का उल्लेख आता है। भगवान् पार्श्वनाथ के जीवनचरित्र में भी साप का सवध पाया जाता है। इससे

प्रकट होता है कि महापुरुष माने जाने वाले व्यक्तियो के चरित्र मे सांप का सबध आता ही है और वे अपने महापुरुषत्व का प्रभाव साप पर डालते हैं। समवायाग सूत्र मे तीर्थंकरो के जो चौबीस चिन्ह बतलाये गये हैं, उनमे भगवान् पार्श्वनाथ का चिह्न साप ही बतलाया है साप ने उनके मस्तक पर छाया करके उनकी रक्षा की थी। बौद्ध साहित्य मे एक जगह उल्लेख आया है कि एक भिक्षु को साप ने काट खाया। जब उस भिक्षु को बुद्ध के पास ले जाया गया तो बुद्ध ने कहा—तुमने सांप के प्रति मैत्री भावना नही रखी थी, इसी कारण सांप ने तुम्हे काटा है।

भगवान् पार्श्वनाथ ने जब जहरीले साप पर भी प्रभाव डालकर उसे सुधारा था तथा उसका कल्याण किया था, तब क्या आप उन मनुष्यो को नही सुधार सकते जो आपकी दृष्टि मे जहरीले हैं ? अगर आप अपने जीवन की उज्ज्वलता की किरणे ऐसे लोगो के जीवन पर भी बखेर दें और उन्हें सुधार लें तो जनता पर आपका कैसा प्रभाव पड े।

भगवान् पार्श्वनाथ ने सांप का कल्याण किस प्रकार किया था, इस वृतान्त को ग्रन्थकारों ने अपने ग्रन्थो मे विशद रूप से लिखा है। कहा गया है कि भगवान् के पूर्व के दसवें भव के भाई कमठ जो नरक मे जाता, उसका भगवान् ने सुधार किया था और उसका भी कल्याण किया था। लोग दुःख को बुरा कहते हैं मगर ज्ञानी पुरुष दुःख की भी आवश्यकता समझते हैं। दुःखो को सहन करके हम अपना भी कल्याण करते है और दूसरों का भी। दुःख सहने से स्व-पर कल्याण होता है, यह बात भगवान् पार्श्व-

नाथ के चरित्र से समझी जा सकती है।

भगवान् पार्श्वनाथ जब बालक थे, उस समय उनके पूर्ववर्ती दसवे भव का भाई तापस बनकर आया। उसने धूनियां जगाईं और इससे लोग बहुत प्रभावित हुए। झुण्ड के झुण्ड लोग उस तापस के पास जाने लगे और अपनी श्रद्धा-भक्ति प्रकट करने लगे। भगवान् पार्श्वनाथ की माता ने उनसे कहा—नगर के बाहर एक बड़ा भारी तपस्वी आया है। वह उग्र तपस्या कर रहा है। सब लोग उसे देखने के लिए जाते हैं। मेरे साथ तुम भी चलो तो हम सब भी देख आयें।

महापुरुष सादे बनकर प्रत्येक काम करते हैं। अतएव माता के कहने पर भगवान् पार्श्वनाथ ने तपस्वी के पास जाना स्वीकार कर लिया। माता के साथ वे तापस के स्थान पर गये। भगवान् राजकुमार थे और उनकी माता महारानी थी। दोनो को देखकर तापस बहुत प्रसन्न हुआ। वह सोचने लगा— जब महारानी और राजकुमार भी मेरी तपस्या से प्रभावित हो गये हैं तो मुझे और क्या चाहिए?

भगवान् पार्श्वनाथ ने हाथी पर बैठे हुए ही—उतरने से पहले ही—जान लिया था कि यह तापस मेरे दस भव पहले का भाई है। मेरा यह भाई आज जिस स्थिति मे है, अगर उसी स्थिति मे रहा तो अपना परलोक बिगाड़ लेगा। जैसे भी सभव हो, इसका उद्धार करना चाहिए। यह तो निश्चित है कि मैं इसका उद्धार करने चलूंगा तो इसके रोष और द्वेष का मुझे भाजन बनना पड़ेगा। इसे सहन करके भी उद्धार करना चाहिए। यह मेरा कर्त्तव्य है।

लोग कहते हैं कि भगवान् पार्श्वनाथ ने कमठ का मान भग किया था। मैं समझता हूं कि ऐसा कहने वालो मे मान है, इसी कारण वे ऐसा कहते हैं। भगवान् पार्श्वनाथ ने जो कुछ भी किया था, वह तापस के प्रति भगवान् की प्रशान्त करुणा का ही परिणाम था। भगवान् के सरल मृदुल हृदय मे तापस के प्रति असीम करुणा का भाव उत्पन्न हुआ और उसी करुणा ने उन्हे तापस के उद्धार के लिए प्रेरित किया। यह बात अलग है कि तापस का अभिमान स्वत. चूर चूर हो गया, मगर भगवान् की ऐसी कोई इच्छा नही थी कि तापस को नीचा दिखाया जाये। भगवान् ने तापस से कहा—'तुम यह क्या कर रहे हो ? इस प्रकार के कष्ट मे पडकर अपने लिए नरक का निर्माण क्यो कर रहे हो ? सरल बनो और ऐसे काम न करो, जिनसे तुम स्वय कष्ट मे पड़ो और दूसरे भी कष्ट पावें।'

यद्यपि अनन्त करुणा से प्रेरित होकर भगवान् ने तापस से ऐसा कहा था मगर तापस कब मानने वाला था ? उसने कहा— तुम राजकुमार हो। राजमहल में रहकर आनन्द करो। हम तपस्वियो की बातो मे मत पड़ो। तुम इस विषय मे अभी कुछ नही समझते हो। तुम अस्त्र-शस्त्र चलाना सीखो और घोड़े फिराओ। राजकुमार यही जानते हैं या उन्हे यही जानना चाहिए। हमारे किसी कार्य के औचित्य या अनौचित्य का निर्माण करना तुम्हारे अधिकार से बाहर है। तपस्वियो की बात तपस्वी ही समझ सकते हैं।

भगवान् ने कहा—अगर आप कुछ जानते होते तो कुछ कहने की आवश्यकता ही न रहती। लेकिन आप नही जानते हो, इसी कारण कहना पड़ा है कि आपने अभी तक

सच्चा मार्ग नही जान पाया है। अगर मैं कुछ नही जानता और आप सब कुछ जानते है तो बतलाइये कि आपको धूनी मे जलनेवाली लकड़ी मे क्या है ?

तापस—इसमे क्या है अग्निदेव के सिवाय और क्या हो सकता है ! सूर्य, इन्द्र और अग्नि–यह तीनो देव हैं। धूनी की लकडी में अग्नि देव है।

भगवान् ने शान्त स्वर में कहा—धूनी में जलने वाली इस लकडी मे अग्निदेव के सिवाय और कुछ नही है, यही आपका उत्तर है न ?

तापस—हाँ, हाँ, यही मेरा उत्तर है। उसमें और क्या रक्खा है ?

भगवान् बोले—इसी से कहता हूं कि अभी तक आप कुछ भी नही जानते। आप जिस लकडी को धूनी में जला रहे हैं, उस लकडी के भीतर हमारे आपके समान ही एक प्राणी जल रहा है।

तापस की आखें लाल हो गईं। वह तिलमिला कर बोला झूठ ! एकदम झूठ ! तपस्वी पर ऐसा आरोप लगाना घोर पाप है।

भगवान् हाथ कगन को आरसी क्या ! आप झूठे हैं या मैं झूठा हूं, इसका निर्णय तो अभी हुआ जाता है। लकड़ी चिरवा कर देखलो तो असलियत का पता लग जायेगा।

तापस–ठीक है मुझे यह स्वीकार है।

लकडी चीरी गई तो उसमें से एक सांप निकला।

वह अधजला हो चुका था। उस तड़फते हुए अधजले साप को देखकर लोगो के विस्मय का ठिकाना न रहा और साप के प्रति अतिशय करुणा जाग उठी। लोग कहने लगे–'धन्य है पार्श्वकुमार! उनके विषय मे जैसा सुनते थे, सचमुच वे उससे भी बढकर हैं।' बहुतेरे लोग उस तापस की निन्दा करने लगे। अपनी प्रतिष्ठा को इस तरह धक्का लगा देखकर तापस बेहद रुष्ट हुआ। वह सोचने लगा—राजकुमार की प्रशसा हुई और मेरी निन्दा हुई!

भगवान् पार्श्वनाथ के हृदय में जैसी दया तापस के प्रति थी वैसी ही दया साप के प्रति भी थी। भगवान् साप का कल्याण करने के लिए हाथी से नीचे उतरे। साधारण लोग समझते हैं कि साप क्या जाने? लेकिन साप जानता है या नही, इसका निर्णय तो भगवान् के समान ज्ञानीपुरुष ही कर सकते है! सर्वसाधारण के वश की यह बात नही है। जिस साप को लोग अतिशय भयावह, विषैला और प्राणहारी समझते हैं, उसी के लिए करुणा-निधान हाथी से नीचे उतरे। वह साँप अधजला हो गया था और उसके जीवन की कुछ ही घडिया शेष रह गई थी। भगवान् ने उसे पच नमस्कार मत्र सुनाकर कहा—तुझे दूसरा कोई नही जला सकता और तू यह मत समझ कि दूसरे ने तुझे जलाया है। अपनी आत्मा ही अपने को जलाने वाली है। इसलिए समता भाव रख। किसी पर द्वेष मत ला। किसी पर क्रोध मत कर। इसी मे तेरा कल्याण है।

भगवान् ने उस सांप को किन शब्दों में उपदेश दिया

होगा, यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता और भगवान् की महिमा भी नही कही जा सकती । फिर भी अनुमान के आधार पर कहा जा सकता है कि उनका उपदेश इसी आशय का रहा होगा । प्रथम तो स्वय भगवान् उपदेशक थे, दूसरे पच नमस्कार मत्र का उपदेश था । अतएव मरणासन्न साप अग्नि का सताप भूल गया । उसकी परिणति चन्दन के समान शीतल हो गई । वह अत्यन्त प्रसन्न हुआ और बारम्बार भगवान् की ओर देखने लगा ।

साप की जो कथा आप सुन रहे हैं वह मनोरजन के लिए नही है । उससे बहुत कुछ शिक्षा ली जा सकती है और शिक्षा लेने के लिए ही वह सुनाई गई है । क्या आप भगवान् पार्श्वनाथ को भजते हैं ? अगर आप भगवान् को भजते हैं तो आपकी मनोवृत्ति ऐसी हो जानी चाहिए कि कोई कैसी ही आग में क्यो न जलावे, आप शीतल ही बने रहे । वास्तव मे आग की ज्वाला मे संताप नही है सताप है क्रोध मे । अगर आप अपनी वृत्ति मे से क्रोध को नष्ट कर दे तो आपको किसी भी प्रकार की आग नही जला सकती । लेकिन होता यह है कि लोग भगवान् पार्श्वनाथ का नाम जीभ से बोलकर आग को हाथ लगाते हैं और कहते हैं कि आग शीतल क्यो नही हुई ? वे यह नही देखते कि हम बाहर की आग को शान्त तो करना चाहते हैं मगर हृदय की आग–क्रोध को शान्ति हुई है या नही ? अगर हृदय की आग शान्त नही हुई है तो बाहरी आग कैसे शीतल हो सकती है ? हृदय की आग को शान्त करके देखो तो सारा जगत शीतल दिखाई देगा ।

ग्रन्थो मे कहा है कि भगवान् के उपदेश के कारण

वह साप मर कर धरणेन्द्र देव हुआ । इस प्रकार भगवान् ने उस साप का भी कल्याण किया । ऐसी बातों के कारण ही जगत मे भगवान् की महिमा का विस्तार हुआ है ।

भगवान् ने साँप का कल्याण किया और कल्याण करने से भगवान् की महिमा का विस्तार हुआ; यह ठीक है । किन्तु इससे आपका क्या कल्याण हुआ ? आपको अपने कल्याण के विषय मे विचार करना चाहिए । आपका कल्याण तभी सभव है जब आप भी भगवान् को अपने हृदय मे बसावे और जलती हुई क्रोध की आग को क्षमा, शान्ति, समभाव आदि के जल से शान्त कर दें ।

कहा जा सकता है कि अगर भगवान् पार्श्वनाथ हृदय मे बस सकते हैं तो फिर बसते क्यो नही हैं ? क्या हम उन्हे बसने से रोकते हैं ? लेकिन सही बात यह है कि भगवान् पार्श्वनाथ को हृदय में बसने देने से एक प्रकार से नही तो दूसरे प्रकार से रोका जाता है । अगर उनके बसने मे रुकावट न डाली जाये तो वे बसने मे विलब ही न करे । अगर आप अपनी मनोवृत्तियो की चौकसी रखते हैं, अपनी भावनाओ की शुद्धि-अशुद्धि उत्थान-पतन का विचार किया करते हैं तो यह बात समझने मे आपको दिक्कत नही हो सकती । लेकिन आम तौर पर लोग सट्टा बाजार के भावो के चढने-उतरने का जितना ध्यान रखते हैं उतना भी आत्मा के भावों के चढाव-उतार पर ध्यान नही देते । यही कारण है कि आत्मा के पतन की भी उन्हें खबर नही पडती । शास्त्र में गुणस्थानो का विस्तृत वर्णन किसलिए आया है ? गुणस्थान आत्मा के उत्थान और पतन का

हिसाब समझाने के लिए ही बतलाये गये हैं। अतएव देखना चाहिए कि किस प्रकार हमने अपने हृदय के द्वार भगवान् पार्श्वनाथ के आने के लिए बद कर रखे हैं और उसका परिणाम क्या हो रहा है ? दूसरो के दुर्गुण देखने मे मत लगे रहो, अपने ही दुर्गुण देखो। दूसरो के दुर्गुण देखते रहने से अपने दुर्गुण दिखाई नही देते। अतएव अपने अवगुणों को देखो और सोचो कि हृदय मे परमात्मा को बसाने में कहा चूक हो रही है ? वास्तव मे मनुष्य कहां चूकता है यह बताने के लिए टालस्टाय द्वारा लिखित और गाधीजी द्वारा अनुवादित 'सच्चा श्रमजीवी' नामक पुस्तक मे से कुछ अश आपको सुनाता हू, उस पर से आप समझ सकेंगे कि हमारी आत्मा कहा—क्या भूल कर रही है।

'सच्चा श्रमजीवी' पुस्तक की जिस वात को मैं कह रहा हूं, वह वहा किन्ही दूसरे शब्दो मे लिखी होगी। लेकिन उसका भाव यह है :—

एक आदमी के तीन लड़के थे और एक लड़की थी। उसके एक लड़के का नाम मूर्खराज था। वह शारीरिक श्रम करने वाला था।

दुनिया मे दो प्रकार के मनुष्य हैं। एक वह जो शारीरिक श्रम करते हैं और दूसरे वे हैं जो केवल वुद्धि की खटपट से ही सव चीजे प्राप्त करके मौज उड़ाते हैं। मूर्खराज श्रमजीवी था।

आप लोग जो कपडे पहनते हैं, उन्हे आपने वुद्धि द्वारा प्राप्त किया है या श्रम द्वारा ? आपने श्रम द्वारा उन्हे प्राप्त नही किया है, वुद्धि के द्वारा प्राप्त किया है।

'लोगो का कहना है कि बुद्धि द्वारा ज्यादा काम होता है और शारीरिक श्रम से कम । उन्हे बुद्धिवाद के कारण मचे हुए हाहाकार पर ध्यान देना चाहिए । ससार मे श्रम की कीमत जितनी घटेगी और एकान्त बुद्धि की कीमत जितनी बढेगी, उतना ही अधिक हाहाकार लोगो मे बढता जायेगा ।'

मूर्खराज श्रमजीवी था । लोग उसे मूर्ख समझते थे, किन्तु वास्तव में वह मूर्ख था नही, यह तो उसी के कार्यों से समझा जा सकता है । 'ससार मे श्रमजीवी मूर्ख समझे जाते हैं, मगर देखा जाये तो ससार का अमन-चैन उन्ही पर निर्भर है । बुद्धिजीवी लोगो को प्राण देने वाले श्रमजीवी ही हैं । अन्न वै प्राणाः अर्थात् अन्न प्राण हैं,' इस उक्ति के अनुसार श्रमजावी कृषक ही तो बुद्धिजीवी लोगो को अन्न रूप प्राण देते हैं ।'

मूर्खराज को किसी प्रकार-तीन बूटिया मिल गई । उनमे यह गुण था कि उनमे से एक का सेवन करने से सब प्रकार के रोग नष्ट हो जाते थे । मूर्खराज के पेट मे दर्द था, अतएव एक बूटी उसने खुद खा ली । उसने सोचा—अपने ऊपर प्रयोग करना ठीक भी होगा । इससे पता चल जायेगा कि वास्तव मे यह बूटी सब रोगो को नाश करने वाली है या नही ? उसने बूटी खाई और उसके पेट का दर्द चला गया । बूटी की परीक्षा भी हो गई, मूर्खराज बहुत प्रसन्न हुआ । उसने सोचा— बडी अच्छी चीज है ।

मूर्खराज घर आया । उसने देखा—घर का कुत्ता पडा तडफडा रहा है । कुत्ते मुँह से अपना दर्द नही बतला सकते । अतएव मूर्खराज की समझ मे नही आया कि कुत्ते

को क्या दर्द है ? उसने सोचा—संभव है, कुत्ता भूखा हो और भूख का मारा ही तडफ रहा हो। वह घर मे से रोटी लाया। कुत्ते के सामने रख दी। मगर कुत्ते ने रोटी नही खाई। तब मूर्खराज ने विचार किया—इसे कोई दर्द मालूम होता है। मेरे पास जो बूटी है वह फिर क्या काम आएगी ? एक बूटी से मेरा दर्द गया है और दूसरी से इसका दर्द मिटा देना चाहिए।

क्या बुद्धिवादी लोग ऐसा करने को तैयार होगे ? क्या कुत्ते के प्राणों की उनके आगे इतनी कीमत है कि ऐसी अनमोल बूटी देकर उसके प्राणा की रक्षा की जाये ? बुद्धिवादी ऐसा करना बूटी का अपव्यय समझेगा। मगर वह तो मूर्खराज जो ठहरा ? उसने एक बूटी रोटी मे मिलाकर किसी तरह कुत्ते को खिला दी। थोडी देर मे कुत्ता ठीक हो गया और पूंछ हिलाकर प्रसन्नता प्रकट करने लगा।

जो मनुष्य कुत्ते को एक भी टुकडा डाल देता है, उसे कुत्ता भोंकता नही है। लेकिन मनुष्य क्या करता है ? लड्डू खिलाने वाले पर भी मनुष्य भौंकने से कब चूकता है ? लोग लड्डू खिलाने वाले के लड्डू भी खा जाते हैं और उस पर भौंकने भी लगते हैं। फिर भी मनुष्य के सामने कुत्ते के प्राणो की कोई कीमत ही नही है !

जब घर वालो ने देखा कि मूर्खराज ने कुत्ते को सहज ही ठीक कर दिया है तो वे कहने लगे—हम इसे मूर्ख समझते थे, मगर यह तो होशियार जान पडता है इसने देखते-देखते कुत्ते को ठीक कर दिया। एक ने उससे

पूछा—क्या तुम्हे कुछ जादू आता है कि आनन-फानन कुत्ते को ठीक कर दिया ?

मूर्खराज ने बाकी बची बूटी दिखाकर कहा—मैं जादू नही जानता हूं, पर मेरे पास यह बूटी है। इस बूटी की करामात से ही कुत्ता अच्छा हुआ है। इस बूटी से सब प्रकार के रोग मिट जाते हैं।

जो मूर्खराज अभी-अभी होशियार हो गया था, वही फिर अब बुद्धू बन गया। घर के लोग उससे कहने लगे—आखिर तो मूखराज ही ठहरा न ! ऐसी अमृत सरीखी अनमोल बूटी कुत्तो को खिलाकर तू ने अपना नाम सार्थक कर दिखाया। भला, यह कुत्ता अच्छा होकर क्या करेगा ? किसी दूसरे को अच्छा किया होता तो कुछ लाभ भी होता।

बुद्धिमान् कहलाने वाले अन्य लोग भी ऐसा ही सोचते होगे। बेचारे कुत्ते पर कौन दया करना चाहता है ? लेकिन किसी प्रकार को आशा से किसी का भला करना सच्ची करुणा नही है। निरीह भाव से—बदला पाने की आशा न रखते हुए दूसरो की भलाई करना ही वास्तव मे करुणा है।

भगवान् पार्श्वनाथ को साप से कुछ मिलना नही था। फिर भी करुणा से प्रेरित होकर भगवान् ने उसका उपकार किया ही था ! करुणा किसी प्रकार का भेद-भाव नही रखती और जो लोभ मे पडा है, उससे भेदभाव नही छूट सकता। अतएव करुणा करने के लिए 'मूर्खराज' सरीखा बनना पडता है।

मूर्खराज के माता-पिता भी जब उसकी अवहेलना

करने लगे और कुत्ते को बूटी खिला देने के लिए उपालभ देने लगे तो उसने उत्तर दिया—आप लोगों के लिए वह कुत्ता है और मेरे लिए मेरे ही समान प्राणी है। अतएव उसके लिए मैं अपने प्राण भी दे सकता हूं।

घर वाले खिन्न चित्त होकर कहने लगे—चलो, जो कुछ हुआ सो हुआ। अब एक बूटो बची है, वह किसी को मत देना।

मूर्खराज ने कहा— ठीक है, मैं इसे व्यर्थ नष्ट नहीं करूँगा।

सयोगवश उस शहर के बादशाह की लड़की बीमार हो गई। लड़की बादशाह और उसकी पत्नी को अत्यन्त प्रिय थी। इसलिए बादशाह ने ढिढोरा पिटवाया कि मेरी लडकी को जो अच्छा कर देगा उसे मैं मुँहमागा इनाम दूँगा। बादशाह द्वारा पिटवाये गये ढिढोरे को मूर्खराज के घर वालो ने भी सुना। उन्होने मूर्खराज से कहा—बूटो की बदौलत अब तेरा भाग्य खुल जायेगा। तेरे पास जो बूटी है, उसे बादशाह की लड़की को खिला दे। लडकी अच्छी हो जायेगी तो उसके साथ तेरा विवाह हो जायेगा। तू सुखी हो जायेगा और तेरे साथ हम लोग भी सुखी हो जाएँगे।

मूर्खराज ने माता-पिता आदि की बात स्वीकार करते हुए कहा—ठीक है, मैं जाऊँगा।

माता-पिता आदि ने मूर्खराज को स्नान करवाया। अच्छे कपड़े पहनने को दिये और बादशाह के पास जाने को रवाना किया। मूर्खराज बूटी अपने साथ लेकर बादशाह

के महल की तरफ चल पड़ा। मार्ग मे उसने देखा कि एक स्त्री को लकवा मार गया है, जिसके कारण वह चल फिर नही सकती। उसका हाथ बेकार हो गया है और मुँह टेढा हो गया है। मूर्खराज ने उस स्त्री से पूछा—'मा जी ! क्या हो गया है तुम्हे ?'

स्त्री—बेटा, देख ले। मेरी कैसी बुरी हालत है ! मेरा शरीर बेकार हो गया है। पेट पालने के लिए भी दूसरो को मोहताज हो गई हू। बडा कष्ट है !

मूर्खराज मन ही मन सोचने लगा— यह बूढी मा इतने कष्ट मे है। मेरे पास बूटी है। मैं इसका कष्ट मिटा सकता हू। यह बूटी किस काम आयेगी ? गरीबिनी बुढिया का कष्ट मिटा देना ही उचित है।

मूर्खराज ने बुढिया से कहा –ले मां जी ! यह बूटी खा ले। तेरा रोग अभी चला जायेगा।

बुढिया बोली – बेटा, मेरा रोग मिटा देगा तो मैं समझूगी कि तू ही मेरे लिए ईश्वर है ?

मूर्खराज—मैं ईश्वर नही हू। मुझे यह बूटी कही मिल गई है। इसका दूसरा क्या उपयोग हो सकता है ? तू इसे खा जा।

बुढिया ने बूटी खाई। वह चगी हो गई। उसे सहसा अपना चगापन देख विस्मय के साथ आनन्द हुआ। मूर्खराज को उसने सैकडो आशीर्वाद दिये।

मूर्खराज सतोष के साथ अपने घर लौट आया।

उसे आया देख घर वाले पूछने लगे—क्यों, बादशाह के पास नहीं गया ? लौट क्यो आया ?

मूर्खराज—मार्ग मे मुझसे एक अच्छा काम हो गया, इसलिए लौट आया हू । घर वालो को बड़ी चिन्ता हुई। उन्होने पूछा—क्या हुआ, कुछ बता भी सही ।

मूर्खराज ने बुढिया का वृत्तान्त कह सुनाया । घर वालों ने यह सुना तो क्रोध के मारे पागल हो उठे। कहने लगे—मूर्खराज कही के ! तू ने हमारे सारे मसूवे मिट्टी मे मिला दिये !

भगवान् पार्श्वनाथ को तो आप भी पुकारते हैं, मगर किसलिए पुकारते हैं ? आप उनके शिष्य कहलाते हैं, मगर क्या करने के लिए ? पार्श्वनाथ के शिष्य कहला कर भी क्या आप मे मूर्खराज सरीखी दया है ? मूर्खराज की निस्पृह दया कितनी सराहनीय है ? क्या आपका अन्त.-करण इस प्रकार की दया से जीवन में एक बार भी कभी द्रवित हुआ है ? स्वयं मे ऐसी दया होना तो दूर रहा, आपके घर का कोई आदमी इस मूर्खराज के समान कार्य करे तो आप उसे शायद घर से निकाल देने के लिए तैयार हो जाएँ ! ऐसी स्थिति मे आप भगवान् पार्श्वनाथ द्वारा की गई दया का असली महत्त्व समझ सकते हैं ? अगर आप सचमुच ही दया का महत्त्व समझते हैं तो अछूतों को व्याख्यान सुनने देने से क्यो वचित रखते हैं ? मैं आपके मकान मे ठहरा हू । अतएव आपकी इच्छा के विरुद्ध कुछ नही कर सकता । किसी को आने या न आने देने का मुझे अधिकार नही है । लेकिन इस विषय मे आप क्या

कहते हैं ? अगर हम आपके मकान में न ठहरे होते और प्राचीनकाल के मुनियो की तरह जगल मे ठहरे होते तो हमारा व्याख्यान सभी लोग सुन सकते थे। यहां किसी के प्रति किसी प्रकार का भेदभाव का व्यवहार नही किया जा सकता था। भगवान् के समवसरण मे बारह प्रकार की परिषद् होती थी। उसमे किसी के प्रति, किसी प्रकार का भेदभाव नही किया जाता था। अगर आपके अन्त-करण में भगवान् पार्श्वनाथ के समान दया हो तो आप किसी भी जाति वालो को व्याख्यान सुनने से न रोकते।

मूर्खराज के घर वाले क्रोध से बावले हो उठे। कहने लगे— यह मूर्ख कितना अभागा है ! पहले तो इसने कुत्ते को बूटी खिलादी और अब, जब कि सभी का भाग्य चमकने वाला था, किसी बुढिया को बूटी देकर चला आया। ऐसा न किया होता और बादशाह की लड़की की बीमारी मिटाई होती तो खुद बादशाह का दामाद बन गया होता और हम लोगो को इस मकान के बदले राजमहल मिला होता ! हमारा घर धन से भर जाता और सब दुःख दूर हो गये होते !

मूर्खराज ने अपने घर वालो से कहा— आप लोग मुझे क्षमा कीजिये। मेरा नाम ही मूर्खराज है ! मैं आप लोगों की बुद्धि के अनुसार काम कैसे कर सकता हूं ? आप मुझ से वृथा ही ऐसी बडी आशा क्यो रखते हैं ? मैं मूर्ख ठहरा। सामने किसी दु खी को देखता हूं तो अपने को रोक नही सकता। मेरे पास जो कुछ होता है, सभी देने को उद्यत हो जाता हू और दे डालता हूं। मेरी प्रकृति

ही ऐसी बनी है। मैं क्या करूँ ?

मूर्खराज की सरल सीधी बात सुनकर सतान प्रेम के कारण माता-पिता आगे कुछ न कह सके। वे चुप हो रहे। सोचने लगे— इसका क्या दोष ? दोप अगर है तो हमारी तकदीर का ही।

मूर्खराज के हृदय मे यह था कि जो भी दु.खी सामने आवे, उसका दु ख दूर करने के लिए, अपने पास जो भी कुछ हो, दे देना चाहिए। मगर आपके हृदय में क्या है ? जरा अपने हृदय को टटोलो। आप भगवान् पार्श्वनाथ के शिष्य हैं। आपके अन्तःकरण में दया का कैसा शीतल झरना बहना चाहिए ? भगवान् साप सरीखे जहरीले प्राणी के लिए भी हाथी से नीचे उतरे। उन्होने पास जाकर उसे उपदेश का अमृत पिलाया। मगर आप दया-दया का पुकार करते हुए भी मान के हाथी पर ही सवार बने रहते हैं। ऐसी दशा मे कैसे कहा जा सकता है कि आपने दया को पहचाना है ? दया करने के लिए मूर्खराज के समान बनना पड़ता है। मूर्खराज को जैसी बूटी मिली थी, आपको वैसी मिल जाये तो आप उसे लेने को फौरन तैयार हो जाएंगे और कदाचित् मूर्खराज मिल जाये तो कहने लगेंगे 'यह तो मूर्खराज है हम इसे लेकर क्या करेंगे ? आप मूर्खराज का अस्थिपजर लो, यह मैं नही कहता। मैं कहता हूं कि मूर्खराज के गुणो को ग्रहण करो। जिस प्रकार मूर्खराज नि स्वार्थ और निष्पक्ष होकर दया करता था, उसी प्रकार आप भी दया करो।

खरगोश हाथी का क्या लगता था ? हाथी को उसकी

रक्षा करने से क्या मिलने वाला था ? हाथी को खरगोश से कुछ भी आशा नही थी । फिर भी उसने घोर वेदना सहन करके भी खरगोश की रक्षा की थी। इसी तरह आप भी निष्काम भाव से दीन दु खी पर दया करो । बुद्धि के चक्कर मे मत पडो । दया करने के लिए 'मूर्खराज' के सदृश बनो । आप मे मूर्खराज की सी आदत नही है, इसी कारण आप किसी के मरने के बाद तो उसकी याद कर-करके रोते हो परन्तु जब वह जीवित रहता है तब तक उसकी पूरी सम्हाल नही करते और उसे कल्याण के मार्ग पर नहीं लगाते ।

यदि ससार मे मूर्खराज के समान ही प्राणी जन्में, जो दिन-रात दूसरे की दया करने मे ही लगे रहे तो ससार सुखी हो सकता है । यह ध्रुव सत्य समझ लो कि ऐसे दयालु और परोपकारी मनुष्य ही ससार के शृ गार हैं । ससार मे अगर कुछ सार है तो ऐसे मनुष्यो का जीवन ही है । ऐसे दयावान मनुष्य ही ससार मे सुख और शान्ति का प्रसार करते हैं । मारकाट मचाकर अपना स्वार्थ सिद्ध करने मे सलग्न रहने वाले बुद्धिवादी लोग समार को सुख-मय नही बना सकते । मूर्खराज कपडे पहन कर बादशाह की बेटी को बूटी देने चला था, मगर मार्ग मे बीमार वृद्धा को देखते ही उसका दिल द्रवित हो गया और उसने उसे बूटी खिला दी । मूर्खराज का यह त्याग मामूली नही कहा जा सकता । उसे राजकुमारी पत्नी मिल सकती थी, कदा-चित् राज्य का भी कुछ भाग मिल सकता था और कीर्ति तो मिलती ही पर उसने इन चीजो की तनिक भी परवाह नही की । सच्ची दया वही है जहा लेशमात्र भी स्वार्थ नही

है। मगर बुद्धि की खटपट त्याग कर मूर्खराज के समान बनने पर ही ऐसी दया की जा सकती है।

ग्रन्थकारों ने हमारे सामने सच्चे दयालुओं के चरित्र इसी उद्देश्य से रखे हैं कि हम उन्हे सुन-समझ कर यह जान सके कि सच्ची दया किस प्रकार हो सकती है। सभव है आप किसी दयालु के चरित्र को पूरी तरह न अपना सकें, तथापि अगर और किसी रूप से अपनाएंगे तो भी आपका कल्याण होगा। आत्मा मे जो कर्म-रोग घुसे हैं, वे धन की अथवा राज्य की शक्ति से नष्ट नही किये जा सकते। उनका विनाश करने के लिये दया ही दवा है। अतएव अपने हृदय मे दया को प्रकट करो। ऐसा करने से आपका कल्याण होगा और साथ ही ससार का भी।

५ : जो दृढ़ राखे धर्म को

श्री जिन अजित नमू जयकारी,
तू देवन को देवजी ॥ प्रार्थना ॥

यह श्री अजितनाथ भगवान् की प्रार्थना है। इस प्रार्थना मे यह भाव प्रकट किये गये हैं कि—हे प्रभो ! मेरे ऊपर तू ऐसी कृपा कर कि मैं तुझ पर एकनिष्ठा प्रीति रख सकू । तेरी कृपा के बिना मैं तेरे साथ एकनिष्ठा प्रीति नही रख सकता। क्योकि तेरे साथ एकनिष्ठा प्रीति रखने मे मेरे पूर्वकालीन सस्कार क्षण क्षण में बाधा डालते हैं। मेरे पूवकालीन सस्कार मुझे तेरी ओर से बार-बार विमुख करने की प्रेरणा करते हैं। अगर मुझ पर तेरी कृपा हो तो मेरे सस्कार मुझे मेरी प्राप्ति से नही गिरा सकेंगे। इसलिए हे नाथ ! मेरी प्रार्थना है कि तू मुझ पर ऐसी कृपा रख कि मेरे संस्कार मुझ तेरी ओर से विमुख न वना सकें। मैं जानता हू कि तुझ मे ही ऐसी शक्ति है। तेरी कृपा के बिना मेरा उद्धार नही हो सकेगा।

परमात्मा से एकनिष्ठा प्रीति करने की इच्छा किसकी न होगी ? सभी यह कहेगे कि हम परमात्मा के प्रति एकनिष्ठा प्रीति रखना चाहते हैं। मगर हृदय की भावना को कौन जाने ? कोई जाने या न जाने, सब को चाहिए कि

वचन और मन की विरूपता का त्याग करके—हृदय मे विरोधी भाव न रखकर परमात्मा के साथ एकनिष्ठा प्रीति धारण करें। इस प्रकार का हार्दिक ध्येय होने पर ही आत्मा का कल्याण हो सकता है।

ससार में सब की मति एक सी नही होती। कहावत है— 'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना।' अर्थात् सब की मति न्यारी-न्यारी होती है। लेकिन इस भिन्नता मे भी कही न कही एकता भी मिलती है। सूर्य ससार को प्रकाश दे रहा है इस कथन मे किसी का मतभेद नही हो सकता। इस प्रकार भिन्नता के साथ एकता भी रही हुई है। परमात्मा के प्रति एकनिष्ठा प्रीति करने मे भी एकता होनी चाहिए। हमे ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि सब लोग इस विषय मे एकमत हो और सभी परमात्मा के प्रति एकनिष्ठा प्रीति रखे। ऊपर से कुछ और भीतर से कुछ हो, ऐसा नहीं होना चाहिए।

कहा जा सकता है कि भगवान् अजितनाथ के प्रति एकनिष्ठा प्रीति रखने मे एकमत हो जाने की जो बात आप कहते है, वह समस्त जगत् के लिए है या सिर्फ जैनो के लिए ? भगवान् अजीतनाथ को सिर्फ जैनधर्म के अनुयायी ही मानते हैं। इससे यह अनुमान होता है कि आपका कथन केवल जंनो के लिए ही है।

इसका उत्तर यह है कि प्रत्येक विवेकवान् पुरुष यही कहेगा कि भगवान् अजितनाथ सारे जगत् के हैं। वे किसी वर्ग विशेष के नही, किसी खास जाति के नही हैं। अजित उसे कहते हैं जो किसी से हारा न हो, किन्तु जिसने सब

को जीत लिया हो। तात्पर्य यह है कि जिसने राग-द्वेष आदि समस्त विकारों को जीत लिया है, जो निर्विकार, निर्लेप, निरजन, शुद्ध, बुद्ध, सच्चिदानन्द रूप बन गया हो, परम पुरुषोत्तम 'अजित' कहलाता है। यह व्याख्या जिसमे भलीभाति घटती है उसे कौन अपना परमाराध्य देव स्वीकार नही करेगा ? ऐसे महान् आत्मा के समक्ष किसका सिर श्रद्धा-भक्ति के साथ विनत नही हो जायेगा ? कौन ऐसे परमात्मा की शरण लेने मे सकोच करेगा ? जो आत्मा को स्वीकार करता है, आत्मा को नित्य मानता है, आत्मा के परम विकास मे श्रद्धा रखता है, वह आत्मशुद्धि के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण स्वरूप भगवान् अजितनाथ को अपना देव क्यो नही स्वीकार करेगा ? अगर कोई पक्षपात में पडा है तो समझना चाहिए कि उसने धर्म के मर्म को नही जाना है। तत्त्व तक उसकी पहुच नही हो पाई है। ऐसी स्थिति मे, मैंने एकमत होने की जो बात कही है, वह सिर्फ़ जैनो के लिए नही वरन् सारे जगत् के लिए कही है। अतएव भगवान् अजितनाथ की शरण जाना ही सब के लिए उचित है। आन्तरिक शत्रुओ को जीतने के लिए भगवान् अजितनाथ की प्रार्थना करने की आवश्यकता है। जो अपने आन्तरिक शत्रुओ को बढ़ाना चाहता है उसके लिए तो क्या कहा जा सकता है ? मगर जो शत्रुओं को जीतकर अनत और अक्षय विजय प्राप्त करना चाहता है, उसे भगवान् अजितनाथ की शरण ग्रहण करना ही चाहिए।

प्रश्न हो सकता है—भगवान् अजितनाथ की शरण लेने से आन्तरिक शत्रु नष्ट हो जाते हैं, किन्तु कर्मों का नाश होना क्या सभव है ? शास्त्र मे तो स्पष्ट कहा है —

कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि ।

अर्थात्—भोगे बिना किये गये कर्मों का नाश नही हो सकता । इस प्रकार जब किये कर्म भोगने ही पड़ते हैं तो भगवान् की शरण लेने से क्या लाभ है ? अगर बिना भोगे ही कर्मों का नाश हो जाता है तो शास्त्र के कथन मे बाधा आती है । इस प्रकार इस प्रश्न का समाधान क्या है ?

इस प्रकार के प्रश्न के उत्तर मे, सक्षेप में यही कहा जा सकता है कि कर्म के भोगने के दो मार्ग हैं । उदय के मार्ग से भी कर्म भोगे जा सकते हैं और क्षय के मार्ग से भी भोगे जा सकते हैं । भगवान् अजितनाथ की शरण लेने पर भी कर्म भोगने तो पडते ही हैं, किन्तु उदय के मार्ग से नही, किन्तु क्षय के मार्ग से भोगने पडते हैं । उदय-मार्ग की अपेक्षा क्षय–मार्ग छोटा है । इस प्रकार भगवान् अजित-नाथ की शरण लेने से भी कर्मों का नाश होता है । डाक्टर वही है जो रोग मिटाता है—जो शरीर के रोग के परमाणुओ को अलग करता है । ऐसा करने वाला ही डाक्टर माना जाता है मगर डाक्टर वेचारा शारीरिक रोग ही दूर कर सकता है । आध्यात्मिक रोग मिटाना उसके सामर्थ्य से परे है । आत्मा के रोग केवल परमात्मा ही मिटा सकता है और जो आत्मा के रोग मिटाता है, वही परमात्मा है । परमात्मा की शरण लिये विना आत्मा के कर्म रोग नही मिट सकते । अतएव परमात्मा की शरण जाना चाहिए । अगर आपको पूर्णरूप से नीरोग होना है तो परमात्मा की शरण अनन्य भाव से ग्रहण करो ।

ससार मे शायद ही कोई व्यक्ति मिले जो अपनी

आत्मा को पापमय बनाये रखना चाहता हो। सभी अपने पापो को नष्ट करना चाहते हैं। मगर किस मार्ग से पाप नष्ट हो सकते हैं यह विचार बहुत लम्बा है। तथापि, ज्ञानी-जनो के अनुभव के आधार पर यह नि सकोच कहा जा सकता है कि पाप नष्ट करने का सरल मार्ग परमात्मा का आश्रय लेना ही है। अतएव जिसके अन्त.करण मे पापो को नष्ट करने की प्रबल इच्छा जागी हो, उसे परमात्मा का सहारा लेना चाहिए। यह मार्ग इतना सरल है कि विज्ञ और अज्ञ सभी समान रूप से इसे अपना सकते हैं। मित्रो ! परमात्मा की शरण समस्त भाव-रोगो की अमोघ औषधि है। इसका सेवन करो और कल्याण के भागी बनो। ज्ञानियो का यह अनुभूत-मार्ग है। इसमे सशय के लिए कोई स्थान नही है।

दु ख नष्ट करने के लिए परमात्मा की शरण मे जाने के उपाय ज्ञानियो ने अनेक प्रकार के बतलाये हैं। अनेक मार्गों से परमात्मा की शरण मे जाया जा सकता है। जैसे एक ही नगर मे पहुचने के अनेक मार्ग होते हैं, उसी प्रकार परमात्मा की शरण मे जाने के भी अनेक मार्ग हैं। फिर भी किसी अच्छे जानकार द्वारा बताये हुए किसी मार्ग को दृढतापूर्वक पकड लेने से आराम के साथ नगर में पहुच सकते हैं, उसी प्रकार परमात्मा क शरण म पहुंचने के ज्ञानियो ने जो अनेक मार्ग बतलाये हैं, उनमें से किसी भी एक मार्ग को पकड लेने पर परमात्मा की शरण में पहुचा जा सकता है। शर्त यही है कि जो भी मार्ग पकड़ा जाये वह दृढतापूर्वक पकड़ा जाना चाहिए और वह मार्ग ज्ञानियो द्वारा बतलाया हुआ होना चाहिए।

जब परमात्मा की शरण मे पहुचने के अनेक मार्ग वतलाये गये हैं तो सहज ही प्रश्न खडा होता है कि हमें उनमे से किस मार्ग का अवलम्बन करना चाहिए ? हमारे लिए कौन-सा मार्ग सरल और सुविधा-जनक होगा ? इस सम्बन्ध मे कोई भी निश्चय करने के लिए हम सवको एकमत हो जाना चाहिए। एकमत होकर ही किसी मार्ग का निश्चय करना उचित है। शास्त्रकार परमात्मा की शरण में पहुचने के लिए एक मार्ग की विशेप रूप से सूचना करते हैं। उनका कथन है कि अवसर को समझो और जो अवसर आया है उसे मत खोओ। हाथ आये अवसर को खो देना वडी मूर्खता है।

किस प्रकार अवसर को जानना चाहिए और किस प्रकार उसका सदुपयोग कर लेना चाहिए, इस विपय मे आचारागसूत्र मे एक कल्पना की गई है। उसमें कहा गया है—मानो किसी कारागार मे कुछ ऐसे कैदी आये, जिनके मुक्त होने की कोई अवधि नही थी। जेलर ने उनसे कह रखा था—अगर कुदरत ही तुम्हारी किसी प्रकार सहायता करे तो तुम्हे छुटकारा मिल सकता है। अन्यथा छुटकारा पाने का और कोई उपाय नही है।

वेचारे उदास और निराश कैदी जेलखाने मे पडे थे। संयोगवश एक रात्रि में मूसलाधार पानी वरसा। पुरानी दीवाल गिर पडी। इसी समय विजली चमकी। एक कैदी ने विजली के प्रकाश में देखा कि जेल की दीवार टूट गिर पड़ी है और जेल से निकल भागने का यही उत्तम अवसर है। मानो, कुदरत ने हमारी सहायता की है। अव

विलब करना उचित नही । जेल से निकल कर भाग जाना ही श्रेयस्कर है । उसने अपने साथियो से कहा— यह अपूर्व अवसर है । जेल से भाग निकलो ।

पहले कैदी की बात सुनकर उसके एक साथी ने कहा— यार ! आधी रात का समय है। पानी बरस रहा है। ठडी हवा के कारण मीठी-मीठी नीद आ रही है। जेल से निकल भागने के बाद फिर कब यहा आना होगा। अतएव एक बार जरा मजे की नीद सो लेने दो ।

कल्पना कीजिए, ऐसा कहकर वह कैदी नीद मे मस्त हो जाये और उसके सब साथी निकल कर भाग जाए तो असावधान किसे समझा जायेगा ? और सावधान किसे माना जायेगा ।

ससार भी एक प्रकार का कारागार है। उसमें मनुष्यजन्म, आर्य-क्षेत्र, उत्तम-कुल, यह सुअवसर मिला है। ज्ञानी कहते है—ससार-कारागार से निकलने का यही उत्तम अवसर है । इस अवसर का उपयोग करो और इस जेल-खाने से निकल जाओ । ज्ञानियो के इस प्रकार सावधान करने पर भी अगर कोई ऊघता रहता है तो ज्ञानी-जन क्या कर सकते हैं ?

आप मे से कई सोचते होगे कि अवसर मिला है तो क्या हमे साधु हो जाना चाहिए ? अगर नही, तो फिर अवसर से लाभ उठाने का अर्थ क्या है ? इसका उत्तर यह है कि अगर आप मे साधु बनने की क्षमता हो तो साधु हो जाना उत्तम ही है । अगर इतनी क्षमता न हो तो सत्कर्म मे लग जाना भी इस अवसर को साधना है ।

इस अवसर को साधने के लिए परमात्मा को शरण मे जाओ और ससार-कारागार के कष्टो से बचो।

ससार वही कहलाता है जिसमे कर्म के आधीन होकर जीव परिभ्रमण करते हैं। यह परिभ्रमण कारण से ही होता है—बिना कारण नही। परिभ्रमण के कारणों की खोज ज्ञानियो ने की है। वे इस परिणाम पर पहुचे हैं कि राग और द्वेष के कारण ही जीव को परिभ्रमण करना पडता है। राग और द्वेष हमारे द्वारा ही उपाजन किये गये हैं और हम ही उनका फल भोगते हैं। ऐसी अवस्था मे परमात्मा को बीच में घसीटने की क्या आवश्यकता है? हमारे किये राग द्वेष के विषय मे परमात्मा क्या कर सकता है?

इसका सरल और सक्षिप्त उत्तर यह है कि परमात्मा की शरण मे जाने से राग-द्वेष मिट जाते हैं, अतएव परमात्मा की शरण में जाने की आवश्यकता है। यह सही है कि राग और द्वेप आत्मा के किये हुए हैं, फिर भी उनका विनाश किया जा सकता है। वल्कि यो कहना चाहिए कि राग-द्वेप आत्मा के किये हुए हैं, इसी कारण आत्मा उनका अन्त भी कर सकता है। अगर राग-द्वेप का अभाव सम्भव न होता तो परमात्मा की शरण मे जाने की आवश्यकता ही नही थी। राग-द्वेप का नाश हो सकता है, इस बात का प्रमाण यह है कि उनमे न्यूनाधिकता होती है। जो वस्तु न्यून और अधिक होती है वह कभी मिट भी सकती है। जो वस्तु कभी न्यूनाधिक नही होती वह तो नही मिट सकती, पर न्यूनाधिक होने वाली का विनाश भी देखा

जाता है। इस प्रकार राग और द्वेष का विनाश होना सम्भव है और इसी निमित्त से परमात्मा की शरण मे जाने की आवश्यकता है। जैन-शास्त्र राग-द्वेष को विनष्ट करने के लिए ही परमात्मा की शरण लेने का विधान करता है। अन्यान्य ग्रन्थ भी इसी बात को कहते हैं। जैसे वैदिक साहित्य मे कहा है—

द्वे द्वे हवइ कर्मणी वेदितव्ये पापस्यैको राशिः पुण्यकृतोमहन्ति।
तदीप स्वकर्माणि सुकृतानि कर्तुं इहैव तं कर्म कवयो वेदयन्ते॥

इस श्रुति का आशय यह है कि—हे शिष्य! जागृत हो। सोता मत रह। तुझे अवसर मिला है। सुकृत कर ले। पुण्यकर्म यानी श्वेत-कर्म कर। इसी के लिए तुझे अवसर मिला है। तेरी आत्मा मे करने की शक्ति तो है, लेकिन यह सोच कि उस शक्ति से क्या करना चाहिए? काले-कर्म करना चाहिए या श्वेत-कर्म करना चाहिए? इस बात को सोचकर जागृत होना।

आत्मा मे कर्तृत्वशक्ति विद्यमान है वह दोनों प्रकार के काम कर सकती है। अच्छे काम भी उससे हो सकते हैं और बुरे काम भी हो सकते हैं। आपको दो हाथ मिले हैं। इन हाथो से दुःखी को आश्वासन भी दिया जा सकता है और किसी को थप्पड़ भी मारी जा सकती है। इस प्रकार शक्ति तो दोनो प्रकार की है, मगर सोचना यह चाहिए कि हमारा हित क्या करने में है? इस विवेक मे ही मनुष्य की उत्कृष्टता छिपी है। डाक्टर जब आपरेशन करता है तो मन को एकाग्र कर लेता है। इसी प्रकार आपके लिए भी मन को एकाग्र कर श्वेत-कर्म करने की

आवश्यकता है। हाथ से आपरेशन भी किया जाता है और छुरा भी मारा जाता है। लेकिन करने योग्य क्या है और न करने योग्य क्या है ? अकबर ने कहा है कि मजहबी झगडे त्यागकर एक बात सीख लो कि इन हाथो से क्या करना चाहिए और क्या नही करना चाहिए ?

> यू कर यूं कर यू न कर, यूं करिया यू होय।
> कहत अकब्बर बादशाह, जीत न सकता कोय।।

अर्थात्—हाथ से दूसरे को आश्वासन दे, सन्तोष दे और दान दे। किसी को थप्पड़ मत मार। अगर थप्पड मारेगा या दूसरे के गले पर हाथ चलायेगा तो तुझे ऐसा ही फल भुगतना पडेगा। तुझे जो शक्ति मिली है उसका सदुपयोग कर। दुरुपयोग मत कर। जो अपनी शक्ति का लाभ दूसरे को नही देता वह ससार मे आदर नही पाता। सूर्य अगर दूसरो को प्रकाश न दे तो उसे कौन सूर्य कहेगा ? कौन उसका आदर करेगा ? इसी प्रकार आप अपनी शक्ति का लाभ दूसरो को नही पहुचाते तो किस प्रकार आपकी प्रशसा हो सकती है ?

बिजली का प्रकाश प्राप्त करने के लिए आपको पैसे देने पडते हैं। लेकिन सूर्य का प्रकाश बिना मूल्य चुकाये ही मिल जाता है ? पैसे न चुकाने पर बिजली का प्रकाश बन्द हो जाता है मगर सूर्य का प्रकाश पैसे न देने पर भी बन्द नही होता। आप सूर्य के प्रकाश का उपयोग करते है और बदले मे पैसे नही देते। फिर भी उस प्रकाश का बदला किसी रूप मे तो चुकाना ही चाहिए। इसलिए मैं कहता हूं कि आपको थोड़ी या अधिक जितनी भी शक्ति

प्राप्त है, उसका उपयोग दूसरे के हित में भी करो। दूसरों का लेकर ही मत बैठे रहो । दूसरो से लेते हो, दूसरो को देना भी सीखो । अकबर ने कहा है कि तुझे हाथ मिले हैं तो उनसे दान दे । किसी गिरते को बचाने का प्रयत्न कर। अगर इतना भी नही कर सकते तो मुख से मीठे बोल ही बोल । कम से कम मीठ वचनो से तो दूसरा को सन्तुष्ट कर ! कहावत है—

> तुलसी मीठे वचन ते, सुख उपजे चहु ओर।
> वशीकरण इक मन्त्र हैं, तज दे वचन कठोर ।।

अगर आप दूसरो को और कुछ नही दे सकते तो इतना तो दे ही सकते हैं । जहा मीठे वचनों का प्रयोग किया जाता है वहा पारस्परिक व्यवहार में मधुरता आ जाती है और पारिवारिक एव सामाजिक जीवन भी माधुर्य-मय बन ज ता है । जहा भाई, बहन, पति, पत्नी आदि मीठे वचन बोलकर एक दूसरे का सत्कार करते हैं, वह घर स्वर्ग बन जाता है । मीठे वचन खराब चीज को भी अच्छी बना देते हैं और कटुक वचन अच्छी चीज को भी बुरी बना देते हैं । कल्पना कीजिये आपके आगे किसी ने अच्छे-अच्छे भोजन परोसे और उन्हे खाने के लिए आपसे अनुरोध किया । आप भूखे भी हैं और भोजन करना चाहते हैं । इस स्थिति मे अगर भोजन कराने वाला कह देता है— 'खाइए, ऐसा उत्तम भोजन तो तुम्हे बाप के राज्य मे भी नही मिला होगा !' तो वह उत्तम और स्वादिष्ट भोजन आपके लिए कैसा हो जायेगा ? ऐसा भोजन आपके लिए विप के समान प्रतीत होगा । इसके

जिससे किसी का सुधार हो और लोगो को धर्म की सहायता मिले। उदाहरण के लिए— यहां अशुचि साफ करने के लिए तो भगी को आने दिया गया था मगर यदि वह मर्यादा से बैठकर व्याख्यान सुनने के लिए आना चाहे तो उसे नही आने दिया जायेगा ! यह 'जाओ-जाओ' नही तो क्या है ? मैं उचित और न्याय-सगत मर्यादाओ को भंग कर देने के लिए नही कहता। सिर की जगह सिर और पैर की जगह पैर तो रहेगा ही, मगर ऐसा व्यवहार करना भी उचित नही कि जिससे सिर और पैर मे बहुत दूरी पड़ जाये ! कम से कम मीठे वचन बोलकर तो सब को सन्तोष दिया जाना चाहिए।

पूर्व समय मे प्रत्येक व्यक्ति से मीठे शब्द कहे जाते थे, चाहे वह कितना ही नीच श्रेणी का क्यो न माना जाता हो। जब मैं छोटा था तो भगिन, धोबिन, नाइन आदि को भी काकी, मा आदि कहता था और उस समय ऐसा ही कहने की पद्धति थी। लेकिन आजकल इन सबका तिरस्कार किया जाता है। अवसर का विचार न करना और एकदम उनका तिरस्कार करना भारत के लिए बहुत हानिप्रद सिद्ध हुआ है। जिस कमी के कारण उन लोगो का तिरस्कार किया जाता है, उस कमी को दूर करने का प्रयत्न ही नही किया गया। इस दशा मे प्रयत्न किया गया होता तो उनमें वह कमियां रह ही नही पाती। बहुत अर्से के बाद गाधीजी ने इस ओर ध्यान दिया है। उन्होने जो प्रयत्न किया है वह सभी को मालूम है। मैंने पोरबन्दर में गांधीजी का जन्मस्थान देखा है। कभी-कभी मैं सोचने लगता हूं कि उस अन्धेरे कमरे मे जन्म लेने वाले गाधीजी

ने जगत् मे अहिंसा का कैसा प्रचार किया है। मेरी दृष्टि में उनकी सब से बडी विशेषता यह है कि उन्होने ससार को अहिंसा का महत्व समझाया है और अपने कार्यों द्वारा अहिंसा का प्रताप सिद्ध कर दिया है। जिस विकराल काल में सारा ससार हिंसा पर भरोसा रखकर मारकाट की तैयारी में लगा हुआ हो और प्रत्येक राष्ट्र में अधिक से अधिक हिंसक शक्ति का सचय करने की प्रतिस्पर्द्धा हो रही हो, उस समय में अहिंसा के सहारे ही अपने देश की स्वाधीनता के लिए सग्राम करना और अहिंसा का प्रताप बतलाना क्या साधारण बात है ? फिर हिंसा मिटाने वाले ऐसे अहिंसापरायण पुरुष की अहिंसा की बात पर ध्यान देना उचित नही है ?

अहिंसा मानने वाले तो आप भी हैं। लेकिन अहिंसा जीवित होनी चाहिए। मुर्दा अहिंसा से कोई लाभ नही होता। अहिंसा ऐसी सक्रिय होनी चाहिए जो हिंसा का प्रबल विरोध करे। अगर हिंसा न करना ही अहिंसा मान लिया जाये अर्थात् हिंसा के अभाव को ही अहिंसा समझ लिया जाये तो अहिंसा का महत्व ही नष्ट हो जायेगा। वास्तव में अहिंसा वह है जो हिंसा का विरोध करे। जैसे सूर्य वही है जो अन्धकार का विरोध करता है, दवा वही है जो व्याधि का विरोध करे, इसी प्रकार अहिंसा वही है जो हिंसा का विरोध करे। गाधी जी ने अहिंसा का यह क्रियात्मक रूप किस प्रकार सिद्ध किया है और किस प्रकार हिंसा की शक्ति का विरोध अहिंसा की शक्ति द्वारा किया है, यह अध्ययन करने योग्य है। उनका अहिंसा को क्रियात्मक रूप देने का कार्य किसे अच्छा नही लगेगा ? और

विपरीत यदि भोजन निकृष्ट श्रेणी का हो मगर खिलाने वाला नम्रतापूर्वक हाथ जोडकर कहने लगे—'मेरे घर जैसा-तैसा भोजन करना स्वीकार करके ग्रापने वडा अनुग्रह किया है, इस खराब अन्न को भी ग्राप मेरे स्नेह को मधुरता से रुचिकर वना लीजिये।' इस प्रकार मधुर वचनों के साथ मिला हुआ साधारण भोजन भी ग्रापको प्रिय लगेगा। यद्यपि पहला भोजन दूसरे भोजन को अपेक्षा अधिक उत्तम है फिर भी ग्रापके लिए वह विष सरीखा क्यों लगता है ? और दूसरा भोजन निकृष्ट होने पर भी प्रीतिजनक क्यो मालूम होता है ? इसका एकमात्र कारण वचनो मे अन्तर है। एक जगह वचन की मधुरता से भोजन मधुर हो गया और दूसरी जगह वचन की कटुता के कारण भोजन कटुक हो गया।

ग्राप और कुछ नही दे सकते तो मीठे वचन तो दे सकते हैं। मीठे वचनो के लिए काई कीमत नही चुकानी पड़ती। मीठे वचन बोलने मे कोई विशिष्ट श्रम या कठिनाई भी नही होती। वे सबके लिए सर्वत्र सुलभ हैं। कहावत है—'वचने का दरिद्रता।' अर्थात्—मीठे वचन वोलने मे काहे की कजूसी। ऐसी सस्ती, सुलभ और उपयोगी वस्तु का भी ग्राप उपयोग न करे तो कितने विषाद की वात है! जव कोई अकिंचन दीन भिखारी ग्रापके घर भीख मागने आता है तो ग्राप उसके साथ कैसा व्यवहार करते हैं ? उसे अपशव्दो का दान तो नही देते ? गरीव वेचारा वडी आशा वांधकर ग्रापके द्वार पर आता है और अतिशय दीनता के साथ ग्रापके आगे हाथ पसारता है। क्या इसलिए कि ग्राप उसे डांट-फटकार कर भगा दे ?

'चल बे चल, यहां क्या तेरे बाप का खजाना गडा है ।'
इत्यादि शब्द कहकर तो आप उमका सत्कार नही करते ?

भारतवर्ष अपनी अनेक विशिष्टताओ मे अतिथि-सत्कार की विशिष्टता के लिए भी प्रख्यात था। किसी समय भारत मे असाधारण अतिथि-सत्कार होता था। उपनिषदों मे 'अतिथि देवो भव' का कितना सुन्दर विधान किया गया है। नीतिकार भी कहते हैं—

सर्वेषामभ्यागतो गुरु. ।

अर्थात्—घर पर आया हुआ अतिथि सब से बड़ा माना जता है। इन सब साहित्यिक विधानो का प्रभाव भारतीय जीवन पर बहुत गहरा पडा था। 'घर आया मां का जाया' अर्थात् जो हमारे द्वार पर आया है, वह चाहे कोई क्यों न हो, हमारा भाई है, इस प्रकार की लोकोक्तिया उस प्रभाव का प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। भारतीय इतिहास का अवलोकन करने पर ज्ञात होगा कि कई बार विदेशी धूर्त लोगो ने भारतीयो की अतिथि सत्कार की परम्परा से अनुचित लाभ उठाया था, फिर भी भारतीयो ने अपनी प्रकृष्ट परम्परा का परित्याग नही किया था।

लेकिन आज क्या स्थिति है ? आज भारतीय जीवन की क्रमशः अधोगति होती जा रही है। भारत धीरे-धीरे अपनी सुन्दर परम्पराओ का परित्याग करता जा रहा है। आज 'आओ, आओ' के स्थान पर जाओ-जाओ' हो गया है। किसी को गिराने के लिए तो बहुत लोग तैयार हो जाते है मगर गिरे हुए को उठानेवाले विरले ही मिलते हैं। लोग काम तो करते हैं मगर इस तरह नही करते कि

जिससे किसी का सुधार हो और लोगों को धर्म की सहायता मिले। उदाहरण के लिए— यहा अशुचि साफ करने के लिए तो भगी को आने दिया गया था मगर यदि वह मर्यादा से बैठकर व्याख्यान सुनने के लिए आना चाहे तो उसे नही आने दिया जायेगा ! यह 'जाओ-जाओ' नही तो क्या है ? मैं उचित और न्याय-सगत मर्यादाओ को भग कर देने के लिए नही कहता। सिर की जगह सिर और पैर की जगह पैर तो रहेगा ही, मगर ऐसा व्यवहार करना भी उचित नही कि जिससे सिर और पैर मे वहुत दूरी पड़ जाये ! कम से कम मीठे वचन वोलकर तो सव को सन्तोष दिया जाना चाहिए।

पूर्व समय मे प्रत्येक व्यक्ति से मीठे शब्द कहे जाते थे, चाहे वह कितना ही नीच श्रेणी का क्यो न माना जाता हो। जव मैं छोटा था तो भगिन, धोविन, नाइन आदि को भी काकी, मां आदि कहता था और उस समय ऐसा ही कहने की पद्धति थी। लेकिन आजकल इन सवका तिरस्कार किया जाता है। अवसर का विचार न करना और एकदम उनका तिरस्कार करना भारत के लिए वहुत हानिप्रद सिद्ध हुआ है। जिस कमी के कारण उन लोगो का तिरस्कार किया जाता है, उस कमी को दूर करने का प्रयत्न ही नही किया गया। इस दशा मे प्रयत्न किया गया होता तो उनमे वह कमियां रह ही नही पाती। वहुत अर्से के वाद गाधीजी ने इस ओर ध्यान दिया है। उन्होने जो प्रयत्न किया है वह सभी को मालूम है। मैंने पोरबन्दर में गांधीजी का जन्मस्थान देखा है। कभी-कभी मैं सोचने लगता हूं कि उस अन्धेरे कमरे मे जन्म लेने वाले गांधीजी

ने जगत् मे अहिंसा का कैसा प्रचार किया है! मेरी दृष्टि मे उनकी सब से बडी विशेषता यह है कि उन्होंने ससार को अहिंसा का महत्व समझाया है और अपने कार्यों द्वारा अहिंसा का प्रताप सिद्ध कर दिया है। जिस विकराल काल में सारा ससार हिंसा पर भरोसा रखकर मारकाट की तैयारी में लगा हुआ हो और प्रत्येक राष्ट्र में अधिक से अधिक हिंसक शक्ति का सचय करने की प्रतिस्पर्द्धा हो रही हो, उस समय में अहिंसा के सहारे ही अपने देश की स्वाधीनता के लिए सग्राम करना और अहिंसा का प्रताप बतलाना क्या साधारण बात है? फिर हिंसा मिटाने वाले ऐसे अहिंसापरायण पुरुष की अहिंसा की बात पर ध्यान देना उचित नही है?

अहिंसा मानने वाले तो आप भी हैं। लेकिन अहिंसा जीवित होनी चाहिए। मुर्दा अहिंसा से कोई लाभ नही होता। अहिंसा ऐसी सक्रिय होनी चाहिए जो हिंसा का प्रबल विरोध करे। अगर हिंसा न करना ही अहिंसा मान लिया जाये अर्थात् हिंसा के अभाव को ही अहिंसा समझ लिया जाये तो अहिंसा का महत्व ही नष्ट हो जायेगा। वास्तव में अहिंसा वह है जो हिंसा का विरोध करे। जैसे सूर्य वही है जो अन्धकार का विरोध करता है, दवा वही है जो व्याधि का विरोध करे, इसी प्रकार अहिंसा वही है जो हिंसा का विरोध करे। गाधी जी ने अहिंसा का यह क्रियात्मक रूप किस प्रकार सिद्ध किया है और किस प्रकार हिंसा की शक्ति का विरोध अहिंसा की शक्ति द्वारा किया है, यह अध्ययन करने योग्य है। उनका अहिंसा को क्रियात्मक रूप देने का कार्य किसे अच्छा नही लगेगा? और

जव वह सभी के लिए अच्छा है तो उनकी बात पर ध्यान देना उचित है या नही ?

आपको जन्मकाल से ही अहिंसा के संस्कार मिले हैं। अतएव आपके ऊपर विशेष उत्तरदायित्य है आपको सोचना चाहिए कि अहिंसक के वस्त्र और अहिंसक का भोजन कैसा हुआ करता है ? लाख रुपये आपके सामने रखकर कोई कहे कि यह रुपये ले लो और एक बकरे को मार डालो। तो आप बकरा मारने के लिए तैयार नही हो सकते। प्रत्यक्ष मे तो आप इस प्रकार अहिंसा का विचार रखते हैं किन्तु अप्रत्यक्ष रूप से किस-किस तरह की हिंसा मे शामिल हो जाते हैं या सहायता करते हैं, यह भी देखना-सोचना चाहिए। बात यह है कि आप अप्रत्यक्ष रूप से हिंसा में सहायता करने मे अभ्यस्त हो गये हैं। इसी कारण उस ओर आपका ध्यान नही जाता है और आप उस हिंसा का विरोध नही करते है। इस बात को दृष्टि में रखकर ही मानो वेद की पूर्वोक्त श्रुति में यह कहा गया है कि सुकृत करने की इच्छा कर। हे आत्मन् ! अगर तुझमें पाप हैं तो भी घबरा मत, किन्तु सुकृत करने की इच्छा कर। तेरे भीतर अगर पापराशि है तो पुण्यराशि भी है। संसार मे एक भी प्राणी ऐसा नही है जो एकान्त पुण्यशाली या एकान्त पापात्मा हो। सर्वार्थसिद्धि विमान का आयुष्य बाधने वाले मे भी ज्ञानावरणीय आदि कर्मरूप पाप होता ही है। इसी प्रकार नरक के प्राणियो मे भी किसी न किसी रूप मे पुण्य विद्यमान रहता है। इस प्रकार प्रत्येक संसारी आत्मा में पुण्य और पाप का अस्तित्व रहता है।

आत्मा में पुण्य और पाप दोनो हैं, फिर भी वेद का

कथन है कि हे पापराशि वाले आत्मा, तू सुकृत करने की इच्छा कर। इस प्रकार जिस आत्मा मे पुण्य विद्यमान है, उसे भी पापराशि वाला कहकर सबोधित किया गया है। मेरी समझ मे इस कथन का कारण यह है कि यद्यपि ससार मे सभी लोग पुण्यात्मा कहलाना चाहते है, सभी पुण्यमय बनना चाहते हैं, लेकिन कोई कैसी ही पुण्यात्मा क्यो न हो, उसम भी किसी न किसी रूप में पाप होता ही है। इसी कारण यह कहा गया है कि हे पापराशि वाले आत्मा ! तू सुकृत करने की इच्छा कर। अर्थात् इसी दृष्टिकोण से आत्मा को पापराशि वाला कहा गया है। थोडा बहुत रोग जिसमे होता है, उसे भी रोगी कहा जाता है। यद्यपि उसमें रोग थोडा और अरोग बहुत है, फिर भी वह रोगी कहलाता है और वह स्वय भी अपने को रोगी मानता है। जब वह स्वय को रोगी मानता है तभी औषध लेने की ओर उसकी प्रवृत्ति होती है। इसी प्रकार थोडे से पाप के कारण भी जो अपने को पापी मानता है वही सुकृत करने के लिए तैयार हो सकता है। इसी अभिप्राय से कहा गया है कि हे पापराशि वाले आत्मा ! तू सुकृत करने की इच्छा कर। तू अपनी अन्तरात्मा मे ऐसा प्रकाश उत्पन्न कर जिससे किंचित् भी पाप न रहने पाये। इस प्रकार का प्रकाश मनुष्यजन्म मे जैसा उत्पन्न किया जा सकता है, वैसा किसी दूसरे जन्म मे नही। इसी कारण मनुष्यजन्म, देवजन्म से भी उत्तम माना गया है। देव जो कार्य नही कर सकता उसे मनुष्य कर सकता है। यद्यपि भोगोपभोग की सामग्री जैसी देवो को प्राप्त होती है, वैसी मनुष्यो को नही प्राप्त हो सकती, फिर भी मनुष्य को वडा कहने का

कारण यही है कि आत्मा अपने पापो को क्षीण करने का जैसा प्रयत्न मनुष्यभव मे कर सकता है, वैसा प्रयत्न देवगति में नही कर सकता।

देवो से आप बड़े हैं। फिर भी आप देवो से किसी चीज की याचना तो नही करते ? अगर आप अपने धर्म पर दृढ़ रहे तो देव आपके दास हैं। शास्त्र में कहा है—

देवा वि त नमसति जस्स धम्मे सया मणो।

कहने का आशय यह है कि मनुष्यजन्म सुकृत करने के लिए बहुत उपयुक्त है। अतएव इसे पाकर सुकृत कर लो। अगर आप सुकृत करते रहे तो इस मार्ग से भी परमात्मा की शरण में पहुच सकते हैं और अपने पापों को नष्ट कर सकते हैं। मगर इसके लिए मन को दृढ करने की आवश्यकता है। जिस का मन प्रबल नही है, जिसकी इच्छाशक्ति मे दृढता नही है वह किसी भी काम को भलीभाति सम्पन्न नही कर सकता। जो अधूरे मन से कार्य आरभ करता है वह जरा सी कठिनाई आते ही उसे छोड बैठता है। यही कारण है कि निर्वल मन वाला व्यक्ति किसी भी कार्य को पूर्णता पर नही पहुंचा सकता। इस सवध मे शास्त्रो में और ग्रन्थो में अनेक उदाहरण दिये गये हैं, जिन्हे समय-समय पर मैं आपको सुनाता भी रहता हूं। आज भी पाण्डव चरित की एक घटना सुनाता हू।

भलीभाति विचार-विमर्श करने के पश्चात् श्रीकृष्ण, पाण्डवो की ओर से सधि कराने के लिए दुर्योधन के पास गये थे। मगर सधि नही हुई। दुर्योधन दुराचारी था, उसने साफ साफ कह दिया कि युद्ध के विना मैं सुई की

नोक बराबर भूमि भी नही दूँगा ।

यह सुनकर कृष्ण सोचने लगे— अब युद्ध अनिवार्य हो गया है । यद्यपि इस युद्ध से अनेक हानिया होंगी और युद्ध न होने देने के लिए ही मैंने प्रयत्न भी किया, पर दुष्ट कौरव अन्याय करने पर तुले हुए है, अतएव युद्ध अब करना ही पडेगा ।

जब पाण्डवो को यह बात मालूम हुई तो वे रण की तैयारी करने लगे । कृष्णवती नदी के किनारे पर पाण्डवो ने अपनो सेना एकत्र करना आरम्भ कर दिया । उन्होने सैनिक ढग से अपना शिविर बनाया । बीचोबीच कृष्ण का तम्बू लगा हुआ था उसके आसपास पाचो पाण्डवो के डेरे लगे थे और वही द्रौपदी का भी डेरा लगा हुआ था । द्रौपदी कार्य करने मे तो पुरुषो से आगे नही बढती थी मगर अपने विचार प्रस्तुत करने मे सब से आगे रहती थी । वह बहुत उग्र विचार की थी और उसकी वाणी में बहुत ओज भरा रहता था । इसी कारण उसका तम्बू वहां लगाया गया था । शिविर में सेनापति धृष्टद्युम्न, राजा द्रुपद, विराट आदि के डेरे भी ढग से लगे हुए थे। पाण्डव सब की यथोचित व्यवस्था करते थे । उन्होने सब राजाओं के पास युद्ध का निमत्रण भेजा था और उसमे स्पष्ट लिख दिया था कि जिस की इच्छा हो—जो अन्याय के प्रतिकार मे सहायक बनना चाहता हो, वह हमारी ओर से युद्ध मे सम्मिलित हो जाये । कौरवो ने भी राजाओ को आमत्रण भेजा था । अतएव कई राजा पाण्डवो की ओर सम्मिलित हुए और कई कौरवो की ओर ।

कुन्दनपुर के राजा भीम के पुत्र रुक्म ने आमत्रण पाकर सोचा—युद्ध का आमन्त्रण आया है, अतएव सम्मिलित होना तो आवश्यक ही है।' इस अवसर पर घर में वैठा तो रह नही सकता। परन्तु प्रश्न यह है कि किस ओर जाना चाहिये ?

प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि युद्ध का आमत्रण पाकर, सिर कटाने के लिए जाना क्या आवश्यक है ? आज के लोग विवाह की कु कुमपत्रिका भेजते हैं और पत्रिका पाने वाला प्राय· विवाह मे सम्मिलित होता है। लेकिन पहले के वीर पुरुप युद्ध का आमत्रण पाकर सर कटाने के लिए भी जाया करते थे। मेवाड़ का इतिहास देखो तो मालूम होगा कि किस तरह राजा लोग युद्ध का आमत्रण पाकर युद्ध के लिए जाया करते थे। वल्कि मेवाड़ के राणा की ओर से युद्ध का आमत्रण पाना और राणा की सहायता करना गौरव की वात समझी जाती थी। मगर आज वह वीरता कहा है ? आज ऐसी निर्बलता आ गई है कि युद्ध का नाम सुनते ही लोगो को वुखार चढ जाता है।

रुक्म ने सोचा—युद्धिष्ठिर का पक्ष वलवान है और न्याय भी उसी ओर है। अत युधिष्ठिर के पक्ष मे ही युद्ध करना चाहिए। लेकिन वहिन के विवाह के समय कृष्ण ने मेरा जो अपमान किया था, वह अव तक मेरे हृदय मे काटे की तरह चुभ रहा है। युद्ध मे उस अपमान का वदला लेना चाहिये। कठिनाई यह है कि कृष्ण स्वय युद्ध नही करेंगे। ऐसी स्थिति मे उन से वदला कैसे ले सकता हू ? मगर उनके मित्र का अपमान कर के मैं अपने अप-

मान की भर पाई कर लूगा ! इस प्रकार विचार कर और अपनी विशाल सेना को साथ लेकर रुक्म रवाना हुआ। वह पाण्डवों के शिविर मे आया। युधिष्ठिर ने उसका स्वागत किया।

रुक्म ने पूछा—आप सब आनन्द में हैं न ?

युधिष्ठिर— वैसे तो आनन्द ही आनन्द है परन्तु आपके आगमन से विशेष आनन्द हुआ।

रुक्म—अगर ऐसे समय पर भी मैं न आता तो मेरी वीरता को कलक लगता। दुर्योधन का अत्याचार और आपका सौजन्य जगत मे प्रसिद्ध हो चुका है। ऐसा होते हुए भी अगर मैं अपने घर मे बैठा रहता और आपका आमत्रण पाकर भी न आता तो मेरा क्षत्रियत्व कलकित हो जाता।

युधिष्ठिर—आपके विचार उच्च हैं और आपका हमारे प्रति प्रेम है। इसी कारण आप आये हैं।

रुक्म— मैं क्षात्रधर्म का पालन करने आया हू। न्याय की रक्षा करना ही क्षत्रियो का धर्म है। 'क्षतात्-नाशात् त्रायते—इति क्षत्रिय.।' जो धर्म की रक्षा करता है वही वास्तव मे क्षत्रिय है। ऐसे प्रसग पर मैं न आता तो मेरी माता को भी कलक लगता।

युधिष्ठिर—आपका कहना यथार्थ है। आपको ऐसा ही विचार रखना चाहिए।

युधिष्ठिर ने सहदेव को बुलाकर कहा— देखो, यह रुक्म आये हैं। तुम इनका सत्कार करो और इनके साथ

जो सेना है उसका भी उचित सत्कार करो ।

यह सुनकर रुक्म ने कहा— मैं आया तो हूं पर स्वागत-सत्कार करने से पहले एक वात का स्पष्टीकरण हो जाना चाहिए ।

युधिष्ठिर—अगर कोई वात स्पष्टीकरण करने योग्य हो तो अवश्य ही उसका स्पष्टीकरण हो जाना चाहिए ।

रुक्म— मेरे हाथ में यह जो धनुप है, इसका नाम विजय है । संसार मे तीन ही धनुप प्रसिद्ध हैं — सारग, गाडीव और विजय । सारग कृष्ण के पास है, गांडीव अर्जुन के पास है और यह विजय मेरे पास है । इन तीन मे से सारंग तो आपके काम नही आ सकता, क्योकि कृष्ण ने निरस्त्र रहने का निर्णय किया है । इस प्रकार अकेला गाडीव आपके पक्ष में रह गया है । मगर गांडीव, इस विजय की समानता नही कर सकता । यह विजय धनुष अकेला ही सम्पूर्ण कौरव-सेना पर विजय प्राप्त कर सकता है । कौरवों पर विजय पाने के लिए आप मे से किसी को भी कष्ट नही उठाना पड़ेगा । इस विजय की सहायता से मैं अकेला ही आपको विजयी वना सकता हूं । परन्तु एक वात का खुलासा हो जाना चाहिए । इसके लिए आप अर्जुन को वुलवाइये ।

रुक्म के कहने से युधिष्ठिर ने अर्जुन को वुलवाया । रुक्म ने अर्जुन से कहा—यदि आप मेरे कथनानुसार एक कार्य करें तो मैं अपना समस्त वल आपको दे सकता हू । क्या आप मेरा कहा कार्य करेंगे ?

अर्जुन पहिले कार्य वतलाइए तो समझकर उत्तर

दूंगा । बिना कार्य को समझे, करने की हा नही भर सकता । कार्य सुनने के बाद ही किसी प्रकार की प्रतिज्ञा की जा सकती है ।

रुक्म—कार्य यही है कि तुम मेरे पैर पर हाथ रख-कर यह कह दो कि— "मैं भयभीत हू और तुम्हारी शरण मैं आया हूं । मेरी रक्षा करो ।" बस, इतना करने से मेरा समस्त बल तुम्हारे पक्ष मे हो जायगा ।

भीम उस समय वही मौजूद थे । रुक्म की बात सुन-कर भीम के नेत्र लाल हो गये । मगर युधिष्ठिर ने उसे रोककर रुक्म से कहा – आप अभी आये हैं थोडी देर विश्राम कीजिये । इस सम्बन्ध मे फिर विचार करेंगे ।

रुक्म—ऐसा नही होगा । इसका निर्णय तो अभी हो जाना चाहिए । बोलो अर्जुन, तुम क्या कहते हो ?

अर्जुन मुझे आश्चर्य है कि इस प्रकार का विचार आपके हृदय मे कैसे उत्पन्न हुआ ! मैंने कृष्ण के चरणो को हाथ लगाया है और मेरी यह प्रतिज्ञा है कि कृष्ण के सिवाय किसी दूसरे के चरण को हाथ नही लगाऊँगा । इसके अति-रिक्त आप मुझसे कहलाना चाहते हैं कि मैं भयभीत हू । मगर मैं भयभीत कब हुआ हू ? जिस अर्जुन ने समस्त कौरव-सेना को परास्त करके भी विजय का श्रेय उत्तर को दिया, वह अर्जुन भयभीत होकर आपकी शरण मे आवे, यह सभव नही है । इसके अतिरिक्त आपके लिए भी यह शोभनीय नही है कि आप स्वय किसी को शरण मे बुलावे । मैंने सिर्फ कृष्ण की शरण ली है । दूसरे किसी की शरण न ली है और न ले ही सकता हूं । आप आये हैं तो मित्र

की भाँति आनन्दपूर्वक रहिये, किन्तु यह आशा न रखिये कि अर्जुन आपकी शरण में आएगा। फिर भी अगर आप यह आशा नही त्याग सकते तो जैसी आपको इच्छा हो, वैसा कीजिये।

अर्जुन का स्पष्ट उत्तर सुनकर रुक्म क्रुद्ध हो गया। वह कहने लगा— मैं इतनी विशाल सेना लेकर तुम्हारी सहायता के लिए आया हूं तुम इतने-से शब्द भी नही कह सकते ! अगर तुम इतना कह दो तो एक घडी के छठवें भाग मे ही मैं तुम्हे विजयी बना सकता हू और युधिष्ठिर के मस्तक पर राजमुकुट रखवा सकता हू।

ऐसे प्रसग पर आपसे सलाह ली जाती तो आप अर्जुन को क्या सलाह देते ? शायद आप यही सलाह देते कि ऐसे नाजुक मौके पर रुक्म के आगे नम्र हो जाना और रुक्म के अभीष्ट शब्द कह देना ही उचित है। रुक्म को किसी भी प्रकार से अपने पक्ष मे रखना चाहिए। मगर अर्जुन वीर था। रुक्म ने उससे यह भी कह दिया था कि मेरा कहना न मानोगे तो अपनी मृत्यु समीप ही समझ लेना। मैं अभी तुम्हारे शत्रु के पक्ष मे मिल जाऊँगा। रुक्म की इस प्रकार की धमकी सुनकर भी अर्जुन ने परवाह नही की। अर्जुन ने यही कहा—अगर आपकी इच्छा विरुद्ध पक्ष मे जाने की है तो प्रसन्नता के साथ जा सकते हैं मैं आपकी इच्छा के विरुद्ध आपको रोकना नही चाहता। लेकिन आपके सामने इस प्रकार की दीनता नही दिखला सकता। आप कौरव-पक्ष मे सम्मिलित होने की सोचते हैं, मगर दुर्योधन आपसे अधिक बुद्धिमान् है। वह आपके चाहे

हुए शब्द कदापि नही कह सकता ।

रुक्म—दुर्योधन को भी मेरे कहे हुए शब्द कहने पड़ेंगे । वह नही कहेगा तो मैं उसके पक्ष मे भी सम्मिलित नही होऊँगा ।

अर्जुन—यह तो आपकी इच्छा पर निर्भर है। मगर इस प्रकार के शब्द कहने वाला कोई नही है ।

रुक्म पाण्डवों की छावनी से अपनी विशाल सेना के साथ चला गया और देखते-देखते कौरवो के शिविर मे जा पहुचा । अर्जुन सोच रहा था— ऐसा अभिमानी व्यक्ति कदापि विजय नही दिला सकता । विजय धनुष ने उसे जीत लिया है । फिर भी उसका अहकार ससार मे ही नही समाता ! हमारे पक्ष मे भले ही थोड़े योद्धा हों, अगर वे उच्चश्रेणी के होगे तो हमारी ही विजय होगी । इस प्रकार के लोगो की भर्ती करना वृथा है । धर्म के साथ व्यवहार करने वाले थोड़े व्यक्ति भी पर्याप्त हैं। धर्म को हार जाने वाले बहुत व्यक्ति भी व्यर्थ हैं, यही नही बल्कि हानिकारक भी हैं ।

कहने का आशय यह है कि मन की दृढता के विना कोई भी मनुष्य, किसी भी महत्त्वपूर्ण काम को पूर्णता तक नही पहुंचा सकता । अर्जुन के मन से दृढता थी । इसी कारण रुक्म के बहुत कहने-सुनने पर भी उसने दीनता दिखलाना स्वीकार नही किया । आपके सामने युद्ध के ऐसे अवसर तो नही आते, मगर छोटी-मोटी बातो मे भी आप अपने धर्म को और गौरव को तो नही छोड बैठते ? अगर आपको धर्म पर विश्वास है, आपके मन मे धर्म के प्रति

दृढता है, तो चाहे जैसा कठिन अवसर आवे या कैसा भी लोभ सामने आवे, आपको धर्म का परित्याग नही करना चाहिए। कहावत है—

सत मत छोड़ो सूरमा, लक्ष्मी चौगुनी होय ।
सुख दुख रेखा कर्म की, टार सके नहि कोय ॥

चिट्ठी पर लिखा जाने वाला साढे चौहत्तर का अंक यह सूचना देता है कि सत्य का परित्याग मत करो। सात का अक कहता है कि मेरी (सत्य की) रक्षा करो और चार का अक प्रगट करता है कि चाहे लक्ष्मी चौगुनी होती हो, फिर भी सत्य मत छोड़ो। दो लकीरें यह बतलाती हैं कि सुख और दुःख कर्म से मिलते हैं। सत्य को त्याग देने से दुःख मिटकर सुख नही बन जायेगा। अतएव किसी भी दशा मे सत्य मत जाने दो किन्तु प्रत्येक परिस्थिति मे धर्म की ही रक्षा करो। उदयपुर का तो मुद्रालेख ही यह है—

जो दृढ़ राखे धर्म को तेहि राखे करतार

अर्जुन ने सेना सहित रुक्म को जाने दिया पर अपना धर्म नही जाने दिया। उसने वास्तविकता के विरुद्ध यह नही कहा कि मैं भयभीत हूं। वह क्षत्रिय था। उसके मन मे दृढता थी। इस कारण उसने सत्य की रक्षा की। क्षत्रिय सत्य की रक्षा करता है और सत्य के प्रति उसके मन में दृढ आस्था होती है। तो क्या आप श्रावकों को सत्य की रक्षा नही करनी चाहिए ? श्रावक सत्य का आग्रही होना चाहिए। सचाई और मानसिक दृढता से ही सत्कर्म सिद्ध होते हैं। सत्य सरलता चाहता है। अतएव सरलता के साथ सत्य का पालन करो। ऐसा करने से सब कठि-

नाइयाँ दूर हो जाएँगी और आत्मा का कल्याण होगा। सत्य का पालन करके ही आप भगवान् अजितनाथ की शरण में पहुच सकते हैं। भगवान् की शरण में पहुंचने का यह मार्ग सरल है। इस सरल सन्मार्ग पर चलने चलो और स्व-पर कल्याण साधो।

है तब तक तो वह आत्मा कहलाता है, लेकिन शरीर से मुक्त होने पर आत्मा और परमात्मा मे किसी प्रकार की विषमता नही रहती। जब तक शरीर के प्रति ममता है तब तक आत्मा परमात्मा से दूर है। इसी ममता के कारण आत्मा अनादिकाल से दु.ख भोगता आ रहा है और जब तक ममता रहेगी, दुःख भोगता ही रहेगा। इस प्रकार शरीर के प्रति जो ममता है वही सब गड़बड़ मचाये है। जिस समय पूर्णरूप से ममता हट जायेगी, आत्मा और परमात्मा के बीच कोई पर्दा नही रहेगा, किसी प्रकार की विषमता शेप नही रहेगी। अतएव ममता को मारने की आवश्यकता है। इसका आशय यह न समझा जाये कि शस्त्र से या विप से आत्महत्या करली जाये और इस प्रकार शरीर त्याग दिया जाये। ऐसा करने से लाभ के बदले हानि ही होगी। विपभक्षण करके शरीर का पूर्णरूप से त्याग नही किया जा सकता। मेरे कथन का आशय यह है कि शरीर के प्रति आत्मीयता का भाव हटा दिया जाये, इसे पर-पदार्थ माना जाये, इसके सुख-दुःख को ही आत्मा का सुख-दु ख ना समझा जाये, बल्कि समष्टि से सुख-दु ख को एकाकार कर लिया जाये—जगत् की शान्ति मे अपनी शान्ति मानी जाये, संसार के दु.ख को अपने दुःख के रूप मे ग्रहण किया जाये। जो पुरुप व्यक्तित्व को भूलकर समष्टि का ध्यान रखता है और शरीर से ममत्व नही करता है, वह शरीर मे रहता हुआ भी परमात्मा से दूर नही है। व्यक्तित्व की भावना हट जाने पर और समष्टि की भावना आ जाने पर शरीर के रहते हुए भा शरीर पर ममत्व नही रहता।

श्रावक प्रायः प्रतिदिन यह पाठ बोलते हैं—

मित्ती मे सव्व भूएसु ।

अर्थात्—समस्त प्राणी मेरे मित्र हैं। मगर क्या आप कह सकते हैं कि इस पाठ का उच्चारण आप केवल जीभ से करते हैं या हृदय से करते हैं ? अगर यह पाठ हृदय से बोला जायेगा तो व्यक्तिगत स्वार्थों का परित्याग किये बिना आपको चैन ही नही पडेगा। यही नही, बल्कि हृदय से इस पाठ का उच्चारण करने वाला समष्टि के सुख के लिए अपने शरीर को भी निछावर करने के लिए तैयार हो जायेगा। उस अवस्था मे धन की तो बात ही क्या है, तन भी तुच्छ दिखाई देगा। इस प्रकार की शक्ति किसमे आ सकती है और किसमें नही आ सकती, ऐसा कोई नियम नही है। यह शक्ति ब्राह्मण कहलाने वाले मे भी नही आ सकती और चाण्डाल कहलाने वाले मे भी आ सकती है। इसी प्रकार दूसरे मे नही आ सकती और ब्राह्मण मे आ सकती है। यानी इस सम्बन्ध मे कोई जातिगत या कुलगत कोई नियम नही है। कोई भी क्यो न हो, जिसने समष्टि की भावना को अपनाया है वह महापुरुष है और ऐसे महापुरुषो से ही जगत् का कल्याण हो सकता है। जिनकी दृष्टि मे व्यक्तिगत स्वार्थ की प्रधानता रहती है, जो अपनी हानि और अपने लाभ के गजो से ही अपने कर्त्तव्य को नापना जानते हैं, उन से विश्व का कल्याण नही हो सकता। ऐसे लोग तो ससार मे बहुत हुए हैं, जिन्होने अपने व्यक्तिगत लाभ के लिए समष्टि को सकट मे डाला है। ऐसे लोगो

६ : व्यष्टि और समष्टि

आज म्हारा सभव जिनजी का हित चित से गुण गास्यां राज।

यह भगवान् संभवनाथ की प्रार्थना है। इस प्रार्थना मे भक्त ने भगवान् से जो आशा बाँधी है, वह आशा सिर्फ उस अकेले भक्त का नही है वरन् सारे जगत् की है।

प्रश्न हो सकता है कि इस आशा को समस्त जगत् की आशा कहने का आधार क्या है? प्रार्थना करने वाले कवि ने क्या सारे ससार से पूछकर प्रार्थना की है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यहाँ जगत् के समस्त जीव तो विद्यमान नही हैं, कही सब एकत्र किये भी नही जा सकते, लेकिन यहाँ जो सघ उपस्थित है, उसकी आन्तरित आकाक्षा को पहिचानकर हम जान सकते हैं कि प्रार्थनाकार कवि को सारे जगत् का प्रतिनिधित्व करने का अधिकार है या नही? और कवि ने जो आशा प्रकट की है वह उपस्थित सघ की भी आशा है या नही?

कोई भी व्यक्ति जब प्रार्थना मे पूर्णरूप से सलग्न हो जाता है, तब उसमें से वैयक्तिक भावना निकल जाती है और उसका स्थान समष्टि-भावना ग्रहण कर लेती है। ऐसा होना अनिवार्य है। परमात्मा की प्रार्थना करते हुए भी अगर व्यक्तित्व की भावना न मिटी और समष्टि की भावना न

आई तो समझना चाहिए कि अभी परमात्मा की प्रार्थना मे पूर्णता नही आ पाई है। ज्ञानीपुरुषो का कहना है कि मनुष्य अपने व्यक्तिगत हिताहित का विचार तो अनादिकाल से करता आ रहा है, लेकिन परमात्मा की प्रार्थना करने पर तो 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना आ जानी चाहिए और समस्त जगत् को अपना ही मानना चाहिए। जब अहभाव मे से सकीर्णता समाप्त हो जाये और उसकी समस्त परिधियाँ खत्म हो जाएँ तब समझना चाहिए कि परमात्मा की प्रार्थना हुई है। जब तक ऐसी व्यापक भावना उत्पन्न न हो, समझ लो कि प्रार्थना करने मे कसर है।

परमात्मा की प्रार्थना करने पर किस प्रकार वैयक्तिक भावना मिटकर समष्टि भावना आ जाती है? और समष्टि-भावना आ जाने पर मनुष्य किस प्रकार परमात्ममय हो जाता है? इन प्रश्नो का उत्तर बहुत विशाल है। फिर भी इस बात पर कुछ प्रकाश डालने के लिए कहना ही होगा। जल जब तक घडे मे है तब तक वह घडे का जल कहलाता है। जब वह जल घडे से बाहर निकलकर किसी प्रकार समुद्र मे मिल जाता है तब वही जल सागर बन जाता है। फिर वह घड़े का जल नही रहता। यद्यपि जल दोनो अवस्थाओ मे एक ही है, फिर भी उपाधि के कारण उसमे भेद मालूम होता है। घडा ही उस जल और सागर के बीच मे अन्तराय हो रहा था। जब अन्तराय मिट गया तो जल सागर में मिल गया—सागर रूप हो गया!

इसी प्रकार जब तक आत्मा इस शरीर में बैठा हुआ

है तब तक तो वह आत्मा कहलाता है, लेकिन शरीर से मुक्त होने पर आत्मा और परमात्मा मे किसी प्रकार की विषमता नही रहती। जब तक शरीर के प्रति ममता है तब तक आत्मा परमात्मा से दूर है। इसी ममता के कारण आत्मा अनादिकाल से दु.ख भोगता आ रहा है और जब तक ममता रहेगी, दुःख भोगता ही रहेगा। इस प्रकार शरीर के प्रति जो ममता है वही सब गड़बड़ मचाये है। जिस समय पूर्णरूप से ममता हट जायेगी, आत्मा और परमात्मा के बीच कोई पर्दा नही रहेगा, किसी प्रकार की विषमता शेष नही रहेगी। अतएव ममता को मारने की आवश्यकता है। इसका आशय यह न समझा जाये कि शस्त्र से या विप से आत्महत्या करली जाये और इस प्रकार शरीर त्याग दिया जाये। ऐसा करने से लाभ के बदले हानि ही होगी। विषभक्षण करके शरीर का पूर्णरूप से त्याग नही किया जा सकता। मेरे कथन का आशय यह है कि शरीर के प्रति आत्मीयता का भाव हटा दिया जाये, इसे पर-पदार्थ माना जाये, इसके सुख-दुःख को ही आत्मा का सुख-दु ख ना समझा जाये, बल्कि समष्टि से सुख-दु ख को एकाकार कर लिया जाये–जगत् की शान्ति में अपनी शान्ति मानी जाये, ससार के दु ख को अपने दु ख के रूप मे ग्रहण किया जाये! जो पुरुप व्यक्तित्व को भूलकर समष्टि का ध्यान रखता है और शरीर से ममत्व नही करता है, वह शरीर मे रहता हुआ भी परमात्मा से दूर नही है। व्यक्तित्व की भावना हट जाने पर और समष्टि की भावना आ जाने पर शरीर के रहते हुए भो शरीर पर ममत्व नही रहता।

श्रावक प्रायः प्रतिदिन यह पाठ बोलते हैं—

मित्ती मे सव्व भूएसु ।

अर्थात्—समस्त प्राणी मेरे मित्र हैं। मगर क्या आप कह सकते हैं कि इस पाठ का उच्चारण आप केवल जीभ से करते हैं या हृदय से करते हैं? अगर यह पाठ हृदय से बोला जायेगा तो व्यक्तिगत स्वार्थों का परित्याग किये बिना आपको चैन ही नही पड़ेगा। यही नहीं, बल्कि हृदय से इस पाठ का उच्चारण करने वाला समष्टि के सुख के लिए अपने शरीर को भी निछावर करने के लिए तैयार हो जायेगा। उस अवस्था मे धन की तो बात ही क्या है, तन भी तुच्छ दिखाई देगा। इस प्रकार की शक्ति किसमे आ सकती है और किसमें नही आ सकती, ऐसा कोई नियम नही है। यह शक्ति ब्राह्मण कहलाने वाले मे भी नहीं आ सकती और चाण्डाल कहलाने वाले मे भी आ सकती है। इसी प्रकार दूसरे मे नही आ सकती और ब्राह्मण मे आ सकती है। यानी इस सम्बन्ध मे कोई जातिगत या कुलगत कोई नियम नही है। कोई भी क्यो न हो, जिसने समष्टि की भावना को अपनाया है वह महापुरुष है और ऐसे महापुरुषो से ही जगत् का कल्याण हो सकता है। जिनकी दृष्टि मे व्यक्तिगत स्वार्थ की प्रधानता रहती है, जो अपनी हानि और अपने लाभ के गजो से ही अपने कर्त्तव्य को नापना जानते है, उन से विश्व का कल्याण नही हो सकता। ऐसे लोग तो ससार में बहुत हुए हैं, जिन्होने अपने व्यक्तिगत लाभ के लिए समष्टि को सकट मे डाला है। ऐसे लोगों

से जगत् का हित नही, अहित ही हुआ है। जगत् का हित तो समष्टिगत लाभ के लिए अपने व्यक्तित्व को भूल जाने वाले पुरुषो के द्वारा ही हुआ है। ऐसे ही पुरुषों ने महापुरुष का पद पाया है। ऐसे महापुरुषों की शरण में जाने के लिए ही कवि ने कहा है—

आज म्हारा संभव जिनजी रा,
हित चित से गुण गास्यां राज ।। आज० ।।

भगवान् सभवनाथ ने अपने सुख-दु.ख को भुलाकर जगत् के सुख के लिए ही व्यापार किया था। स्वार्थ-भावना रखकर व्यापार करना कोयले का व्यापार करने के समान है, जिससे हाथ तो काले हो जाते हैं मगर नफा ज्यादा नही होता और स्वार्थ-भाव त्याग कर समष्टि के लाभ के लिए व्यापार करना हीरे के व्यापार के समान है। यह व्यापार अनन्त हीरो के व्यापार से भी बढ़कर है। इस प्रशस्त व्यापार की प्रशसा करने के लिए शव्द पर्याप्त नही हैं।

अतएव मेरा सन्देश यही है कि अगर आप सभवनाथ भगवान् की शरण ग्रहण करना चाहते हैं तो व्यक्तिगत लाभ की भावना से ऊपर उठो। अपने स्वार्थ को न भूल सको तो कम से कम अपने स्वार्थ के साथ साथ सार्वजनिक हित का ही ध्यान रक्खो।

यहां जो सघ एकत्र हुआ है, वह कुछ काम करने के लिए या यो हा ? आपको यह नही भूलना चाहिए कि जो समाज जगत् के हित के लिए है, उस समाज में भाग न लेना, उस का सदस्य न वनना आत्म-हत्या के समान है।

दूसरे के हित के काम में प्रमाद नही करना चाहिए और उसमें इस प्रकार भाग लेना चाहिए मानो वह अपने ही हित का कार्य है।

मैंने आपको एक वैदिक श्रुति सुनाई थी। उसका आशय यह था कि पुरुष के हृदय में एक पापकर्म की राशि होती है और दूसरी पाप-पुण्य की मिश्र राशि होती है। यह दोनो राशिया सदैव नही बनी रहती, बल्कि सुकृत की एक उज्ज्वल राशि उत्पन्न होकर इन दोनो राशियों को भस्म कर देती है। उदाहरणार्थ—एक कमरे में पूरी तरह अन्धकार है। दूसरे कमरे में टिमटिमाता हुआ दीपक जलता है, जिसमे किंचित प्रकाश तो है मगर सब अन्धकार नही मिटा है। सूर्य प्रकट होकर दोनो कमरो का अन्धकार मिटा देता है। इसी प्रकार आत्मा में विद्यमान पापराशि को और मिश्रराशि को, सुकृत की उज्ज्वल राशि नष्ट कर देती है। अतएव सुकृत किये विना समय मत गवाओ। सुकृत करने से आत्मा मे रही हुई पापराशि और मिश्रराशि मिट जायेगी। सुकृत करने के लिए मनुष्यजन्म ही सर्वोत्तम अवसर है। इसके लिए दूसरा शरीर उपयुक्त नही है।

शास्त्र का समीचीन अर्थ जानकार के विना भली-भाति समझ मे नही आता। महाभारत मे कहा गया है कि धर्मक्षेत्र और कुरुक्षेत्र में युद्ध हुआ। लेकिन धर्मक्षेत्र का अर्थ क्या है, और कुरुक्षेत्र का तात्पर्य क्या है; यह वात तो कोई समझदार ही समझ सकता है। कुरु का अर्थ है—कु–रु। जहा आज काटे उगते हैं, उस भूमि का सुधार किया जाये तो उनमें गेहू भी पैदा हो सकते हैं।

यह शरीर कुरुक्षेत्र है। इस कुरुक्षेत्र को भी प्रयत्न द्वारा धर्मक्षेत्र बनाया जा सकता है। काम, क्रोध, मोह, मत्सर आदि का वास होने के कारण शरीर कुरुक्षेत्र बना हुआ है। जब इन विकारो का अन्त हो जायेगा और उनके स्थान पर अहिंसा आदि सद्गुण आ जाएंगे तो यह शरीर कुरुक्षेत्र से धर्मक्षेत्र बन जायेगा। शरीर जब धर्मक्षेत्र बन जाता है तभी आत्मा का कल्याण होता है, अन्यथा नही।

मैं बार-बार यह बात आपको सुनाता हूं और आप बार-बार सुनते है। मगर सुन लेने मात्र से आत्मा की भलाई नही हो सकती। धर्म की जिस बात का आप श्रवण करते हैं, उसे अपनी शक्ति के अनुसार अमल मे लाइए। यह अपूर्व अवसर जो आपको मिला है सो सुन लेने भर को नही है। यह कार्य करने का अवसर है। कार्य करके दिखलाओ। लोग सभाएं करते है, अधिवेशन किया करते हैं, सो इसी उद्देश्य से कि कोई जनहितकारी मार्ग निकले। लेकिन इस प्रकार की सभा देखकर ही रह जाना ठीक है या उसमे सम्मिलित होकर नियमों का पालन करना उचित है? जो सभा–सोसाइटी कुछ व्यक्तियो के स्वार्थ के लिए न हो किन्तु जगत् का हित करने के लिए हो वही सच्ची सभा-सोसाइटी है, अन्यथा उसे स्वार्थियो का गुट ही कहा जा सकता है। इसी प्रकार वही समाज समाज है जो समष्टि के हित को अपना लक्ष्य बनाता है। सबका हित सामने रखकर कार्य करने पर सभी कार्य सभव हैं।

व्यक्तिगत स्वार्थ को किस प्रकार भूल जाना चाहिए

और समष्टि का किस प्रकार ध्यान रखना चाहिए, यह बात भी पाण्डवो के चरित्र से समझी जा सकती है। कई लोगों को यह भ्रम हो रहा है कि अपने घर मे साहित्य नही मिलता, किन्तु बाहर ही साहित्य मिलेगा। यह भयानक भ्रम है। जब बाहर देखना त्याग कर अपने घर को देखोगे तो पता चलेगा कि जहा के पृथ्वी-पानी से आपका शरीर बना है, उस भारत मे कैसा साहित्य विद्यमान है। दूसरो के साहित्य की प्रशसा मे अपने साहित्य को भूल जाना अनुचित है। आप जिस भूमि पर उत्पन्न हुए हैं, उसकी महिमा का विचार करो उसको ओर अवज्ञा का भाव रखना और दूसरे देशो की तरफ टकटकी लगाना कृतघ्नता है। अमेरिका के देशभक्त डाक्टर थोर की बात मैं कई बार कह चुका हू। उनका कहना है कि जिस भूमि ने मेरा बोझ उठा रक्खा है उसे स्वर्ग से भी बढकर मानना चाहिए। यही बात हमारे यहा भी कही गई है—

जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।

बहुत से लोग स्वर्ग की प्रशसा के गीत गाते है और कहते हैं कि यहा तो दुख ही दुख है। लेकिन शास्त्र के अनुसार इस भूमि का महत्त्व समझोगे तो पता चलेगा कि स्वर्ग बडा है या यह भूमि बडी है। इसी प्रकार बहुत से लोग भारत को तुच्छ और यूरोप के पेरिस आदि नगरो को महान् समझते हैं। जो आदमी अपने घर को नही देखता है किन्तु बाहर ही देखता है, उसे इस प्रकार का विचार होना स्वाभाविक है। लेकिन उन्हे यह नही भूल जाना चाहिए कि केवल बाहर देखकर घर की उपेक्षा या अवज्ञा

करने से कुछ भी लाभ नहीं होगा । अपने घर मे कुछ है या नही इस बात का पता तो तभी लग सकता है जब ध्यानपूर्वक घर को टटोला जाय । जिस भारत के आगे यूरोप की प्रशसा की जाती है, उसके विषय में दुर्लभजी भाई के ×लडके, जो कई बार यूरोप जा आये हैं, कहते थे कि यूरोप मे तलाक तो होता ही था, अब परिमित समय के लिए विवाह भी हो सकता है । अर्थात् दो-चार वर्ष के लिए भी विवाह हो सकता है। इस नियत अवधि के पश्चात् पति और पत्नी दोनो स्वतत्र हैं । वे चाहें तो किसी दूसरे के साथ विवाह कर सकते है । यह उस स्वर्ग का हाल है जिस पर ललचाकर भारत की निन्दा की जाती है । क्या यह पद्धति आर्यदेश के लिए घृणास्पद नही है !

खेद है कि आज अनेक भारतवासी विदेशो की चाल-ढाल पर ललचाकर भारत के शत्रु बन रहे हैं—मातृभूमि के विरोधी हो रहे हैं । यद्यपि प्रगट मे कोई अपनी मातृ-भूमि का शत्रु नही बनना चाहता, लेकिन कार्य ऐसे किए जाते हैं । उदाहरणार्थ—जहा पैदा हुए हैं वहा का खाना-पीना आदि पसद न करके दूसरे देश का खाना पीना पसद करना । यह मातृभूमि से शत्रुता करना नही तो क्या है ? माता का बनाया भोजन पसद न आना और वेश्या का बनाया पसद करना क्या माता के प्रति द्रोह करना नही है ? ऐसा व्यक्ति मातृद्रोही ही कहा जा सकता है । इसी प्रकार जिसे भारत का रहन सहन, खान-पान और पोशाक पसंद नही है किन्तु विदेशी रहन-सहन खान-पान और

×जयपुर निवासी श्री विनयचन्द भाई जौहरी

पोशाक पसद है वह मातृभूमि का द्रोही क्यो नहीं है ? विदेशो की देखादेखी अपने आचरण को खराब करना अपने आत्मा का अहित करना है । क्योकि जिसका बाहरी आचरण शुद्ध रहता है उसी का आन्तरिक आचरण शुद्ध रह सकता है । जिसका बाहरी आचरण ही शुद्ध नही है, उसका आन्तरिक आचरण शुद्ध किस प्रकार रह सकता है ? जब तक बाह्य आचरण शुद्ध नही है तब तक यह नही कहा जा सकता कि आन्तरिक आचरण शुद्ध है । मुझ में साधुता तो हो मगर साधु के योग्य वेष मैंने धारण न किया हो तो क्या आप मुझ साधु कह सकते हैं ? अगर नही, तो आप हमारे वेष का तो इतना खयाल रखते हैं और अपने वेष का खयाल नही करते ! यह कैसे उचित कहा जा सकता है ? आज आप अपने वेष का खयाल नही करते हैं, लेकिन जरा विचार तो करो कि आपके पूर्वज कैसे हुए हैं ? इस बात को जानने के लिए पाण्डवचरित्र मे से एक घटना सुनिये ।

कौरवो और पाण्डवों मे कलह क्यो था ? इस प्रश्न का उत्तर लम्बा है । उस पर विवेचन करने का समय नही है । यहा सिर्फ इतना ही कह देना पर्याप्त है कि युधिष्ठिर, दुर्योधन से अपना हक मागते मागते थक गये । मगर दुराग्रही दुर्योधन ने साफ कह दिया—युद्ध के विना मैं थोड़ी सी भी भूमि नही दूँगा । दुर्योधन का यह स्पष्ट उत्तर पाकर भी युधिष्ठिर ने सोचा – हमे थोडा प्रयत्न और कर लेना चाहिए, जिससे कोई हमें दोषी न ठहरा सके । यह सोचकर पाचो पाण्डव द्रौपदी के साथ कृष्ण के पास द्वारिका गये । युधिष्ठिर ने कृष्ण को सारा वृत्तान्त सुनाया । उन्होने यह

भी कहा—दुर्योधन के भीषण अत्याचारो और अन्यायों के बावजूद भी मैं यही चाहता हू कि भरतवश सुरक्षित रहे। उसे किसी प्रकार क्षति न पहुचे। लेकिन दुर्योधन हमारा राज्य हमारे मागने पर भी नही लौटाता और हमे दवाता है। हम आपके पास आये है। आप ही हमे मार्ग सुझाइए। हमे अव क्या करना चाहिए ? आप हमे जो आदेश देगे, उसे हम शिरोधार्य करेंगे, यह कहने की तो आवश्यकता ही नही है।

इस प्रकार युधिष्ठिर ने कृष्ण पर भार डाल दिया। भीम और द्रौपदी ने भी अपने उग्र विचार कृष्ण के सामने प्रकट किये। सब की बात सुनकर कृष्ण ने अर्जुन से पूछा—तुम क्यो चुप हो ? तुम भी अपने विचार प्रकट करो।

अर्जुन ने नम्रता के साथ कहा— जब मैं आपका शिष्य बन गया हू, मैंने आपको हाथ जोड़ लिये है तो आपसे भिन्न कहा रहा ? मुझसे कुछ जानने या पूछने की आवश्यकता ही क्या रह गई है ? मैं अपना सर्वस्व आपको सौंप चुका हू। मेरा सिर्फ एक ही कर्त्तव्य है—आपके आदेश को स्वीकार करना। ऐसा करने मे चाहे सर्वस्व जाता हो या प्राण देने पडते हो।

कृष्ण यह तो ठीक है, मगर तुम्हारे विचार जाने बिन संधि कराने जाऊ और वहा तुम्हारे विचारो के विरुद्ध कोई कार्य हो जाये तो ठीक नहीं होगा। अतएव मैं तुम्हारे विचार जान लेना चाहता हू।

अर्जुन—सूर्य के सामने दीपक की क्या विसात है ? फिर भी सूर्य की पूजा करने वाले लोग सूर्य को अपने घर

का दीपक दिखाते ही हैं । इसी प्रकार आपके सामने मेरे विचार दीपक के समान हैं । लेकिन आपका आदेश है तो मैं उसका उल्लघन नही कर सकता और अपने विचार आपके समक्ष रखता हूं ।

अर्जुन ने कहा— कृष्णजी, हम मे शक्ति है, मगर धर्मराज अवसर आने पर हमे दबा देते हैं । मुझ यह बात रुचती नही । यद्यपि मैं अपने ज्येष्ठ भ्राता का विरोधी नही हू और उनकी आज्ञा का अनुयायी हू, फिर भी इस समय मैं अपने स्वतत्र विचार प्रस्तुत कर रहा हूं । मैं मानता हू कि राज्य मागने मे नही मिला करता । हमने दुर्योधन और धृतराष्ट्र के हृदय को परख लिया है । वे राज्य देने की इच्छा नही रखते । बल्कि हमारे मागने से उनका साहस और बढ गया है । वे समझने लगे हैं कि हमारे दिये बिना पाण्डव राज्य नही पा सकते । अगर राज्य पर इनका हक होता और उसे पाने की इनमे शक्ति होती तो याचना क्यो करते ? इस प्रकार मागने से कौरव राज्य नही देगे । फिर भी हमे अपने अधिकार का राज्य तो लेना ही है । अतएव हमे अपना अधिकार अपनी शक्ति से ही प्राप्त करना चाहिए । याचना करना अपने गौरव को घटाना है ।

कृष्ण—तो क्या तुम्हारा यह अभिप्राय है कि भीम के कथनानुसार मैं कौरवो के सामने युद्ध का ही प्रस्ताव उपस्थित करू ?

अर्जुन—मैंने भीष्म और द्रोण से समझा है कि युद्ध मे कितनी बुराइया हैं और उससे कितनी अधिक हानि होती है । युद्ध मे एक पक्ष दूसरे पक्ष का विनाश ही चाहता है

और विनाश ही करता है, लेकिन वास्तव में भावी प्रजा के लिए निर्णय करने के अधिकारी हम कैसे हो सकते हैं ? अपने स्वार्थ के लिए भावी प्रजा को सकट मे डाल देना राजनीतिक बुद्धिमत्ता नही है। अतएव मैं युद्ध का ही प्रस्ताव उपस्थित करने के लिए नही कहता। मेरा कथन सिर्फ यही है कि हमारा हक हर हालत में हमे मिलना चाहिए। आप जिस विधि से उचित समझें, हमारा हक दिलावें।

कृष्ण—यह तो मैं समझ गया। लेकिन दुर्योधन के हाथ मे सत्ता है। मुझे विश्वास नही होता कि वह राज्य का लोभ छोड़ देगा। ऐसी दशा मे तुम मुझे किस मार्ग का अवलम्बन करने के लिए परामर्श देते हो ?

अर्जुन—आपका विचार यथार्थ है। वास्तव में सत्ता मनुष्य को गिरा देती है। यद्यपि सत्ता दूसरों की सेवा के लिए होनी चाहिए, मगर सत्ता प्राप्त होने पर मनुष्य मे अहभाव आ जाता है और इस कारण सत्ताधीश घोर अनर्थ भी कर डालता है। दुर्योधन के हाथ मे इस समय सत्ता है। अगर वह अपनी सत्ता का दुरुपयोग न करता तो हमें दखल देने की कोई आवश्यकता नही थी। लेकिन वह सत्ता का दुरुपयोग करता है—सत्ता के बल से हमें दवाना चाहता है, अतएव हमे प्राण देकर भी अपने अधिकारो की रक्षा के लिए तत्पर रहना होगा।

कृष्ण— यह तो ठीक है। मगर मैं जा रहा हूं। अगर भीष्म और द्रोण को कोई सदेश कहना हो तो कहो।

अर्जुन—आपके द्वारा ही अगर उन्हे सदेश न भेजूंगा

तो फिर किसके साथ भेजूंगा ? आप कृपा कर मेरे काका धृतराष्ट्र से कहना कि आप आँखो से अन्धे हैं, मगर हृदय से अन्धे मत बनो। आपके लिए यह उचित है कि आप हम पाण्डवो को और दुर्योधन को समान समझें। मगर आप पक्षपात मे पड गये हैं और दुर्योधन को अधिक तथा हमें न्यून मान कर अपने बडप्पन में कलक लगा रहे है। अभी तक जो हुआ सो हुआ। लेकिन अब ऐसा उपाय करो कि कुल का विनाश न हो।

काका से यह कहने के साथ ही आप भीष्म और द्रोण से यह कहना कि अर्जुन ने आपको प्रणाम किया है। वह आपके उपकारो के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करता है। वैसे तो आप सत्य के पक्षपाती हैं और हमसे स्नेह करते हैं लेकिन ऐसे नाजुक प्रसग पर चुप्पी साधना अपनी वीरता और अपने क्षात्रत्व को कलक लगाना है। आपने ऐन मौके पर मौन रह कर सत्य और स्नेह की रक्षा नही की है। अब भी आप सावधान हो। दुर्योधन आपके बल के भरोसे ही सेना सजा रहा है और आप उसके अन्याय को जानते हुए भी उसे सहयोग देने के लिए तैयार हुए हैं। यह सर्वथा अनुचित है।

इतना कहकर अर्जुन ने कहा—आप मेरी तरफ से यह सदेश कह देना। अन्त मे मैं यही कहता हूं कि मेरी बुद्धि अल्प है और आपकी बुद्धि सागर के समान अथाह है। अतएव आप जो भी कुछ करेंगे, हम उसमे अपना कल्याण मानेंगे और आपके किये कार्य के विरुद्ध कदापि, कुछ भी नही कहेगे।

कृष्ण से यह कह चुकने के पश्चात् अर्जुन ने युधिष्ठिर से पूछा—आपका क्या विचार है ?

युधिष्ठिर- मैंने आपकी शरण में रहकर आपका उपदेश सुना है मैं जानता हूं कि बड़े-बड़े शास्त्रज्ञ भी आपके विचार सुनकर नम्र हो जाते हैं और अपना पक्ष छोड़ देते हैं। आपके विचार हृदय को इस प्रकार प्रभावित कर देते हैं कि उनके विरुद्ध कोई कुछ भी नही कह सकता। अतएव आप जो कुछ करेंगे, मुझे स्वीकार होगा।

युधिष्ठिर ने भीम, नकुल और सहदेव से पूछा—तुम्हारा क्या विचार है ? सभी ने कृष्ण पर अपना विश्वास प्रकट किया और उनके निर्णय को स्वीकार करने की प्रतिज्ञा की।

अन्त मे द्रौपदी की वारी आई। उससे पूछा गया—देवी, तुम्हारा क्या विचार है ? इस प्रश्न के उत्तर में द्रौपदी ने अपने केश हाथ मे लेकर कृष्ण से जो कुछ कहा था, वह कथन इतना उग्र था कि उससे मुर्दा हृदय में भी एक वार जान आ सकती थी। उसने ऐसी उग्रता भरी बात कह कर भी अन्त मे यही कहा—आप मेरे केशों का विचार अवश्य रखें यो तो मैं आपके साथ ही हूं। आप जो कुछ करेंगे, हमारे हित मे ही होगा और वह सब मुझे स्वीकार होगा।

इस प्रकार द्रौपदी सहित सभी पाण्डवो ने कृष्णजी पर अपना पूर्ण विश्वास प्रकट किया। परिणाम इसका यह हुआ कि महाभारत-सग्राम मे पाण्डवों को ही विजय प्राप्त हुई। यद्यपि युद्ध मे कृष्ण निश्शस्त्र थे, फिर भी कृष्ण पर ही सब ने विश्वास प्रकट किया। इसी विश्वास की वदौलत उन्होने विजय पाई थी। इस घटना के प्रकाश मे हमें

अपने कर्त्तव्य का निर्णय करना चाहिए। आपको किस पर विश्वास रखना चाहिए ? सासारिक सकट जब आपके मस्तक पर मडरा रहे हो और जब आपका अधिकार दूसरे ने अपहरण कर लिया हो, तब आपको वीतराग भगवान् पर अचल आस्था रखनी चाहिए। आपको उनका निर्णय स्वीकार करना चाहिए। ऐसा करने से आपकी विजय होगी। भगवान् वीतराग का आदेश है कि काम, क्रोध, मोह, मद, मत्सर का त्याग करो। आप वीतराग के आदेश पर आस्था रखो तो आपका कदापि अकल्याण नही होगा, किन्तु कल्याण ही होगा।

७ : जय-जय जगत्-शिरोमणि

मुझ पर महर करो चन्द्रप्रभो ! जगजीवन अन्तर्यामी ।

यह भगवान् चन्द्रप्रभ की प्रार्थना है । इस प्रार्थना मे आगे चलकर यह सरल बात कही है—

जय-जय जगत्-शिरोमणि ।

अर्थात्— हे जगत् के शिरोमणि ! तेरा जयजयकार हो ! यों तो यह सरल और साधारण सी बात है, परन्तु गभीरता के साथ विचार करने पर प्रतीत होता है कि इस सरल उक्ति मे भी अतीव गभीर रहस्य छिपा है ।

जगत् विचित्रताओ से भरा है और जो विचित्रताओ से भरा है वही जगत् कहलाता है । परमात्मा ऐसे जगत् का शिरोमणि है, यह सुनकर किसी के मन मे किसी प्रकार की भ्राति भी हो सकती है ! इस जगत् मे स्वर्ग भी है और नरक भी है । स्वर्ग कैसा है और नरक कैसा है, इन दोनो मे कसी विचिता है ? फिर भी जगत् मे दोनो का समावेश हो जाता है । जगत् के प्राणियो मे भी कोई पापात्मा है और कोई पुण्यात्मा है। कोई ऐसा सुखी जान पडता है कि स्वर्ग को भी नीचा दिखलाता है और कोई नारकीय वेदना भोगता हुआ घोर दुखी है । कोई ऐसे कार्य करते हैं कि स्वर्ग में रहने वाले भी नही कर सकते

और इसके विपरीत किसी-किसी की करतूतो से नारकी जीव भी लज्जित हो सकते हैं। फिर परमात्मा ऐसे विचित्र जगत् का स्वामी कहलाता है। यह बात किस प्रकार समझी जाये ? परमात्मा को जानने के लिए कौनसा मार्ग ग्रहण किया जाये ?

इस सम्बन्ध मे ज्ञानीजनो का कथन है कि घबराओ मत। जब तुम जगत् के शिरोमणि से भेंटना चाहोगे और भेंटने के लिए प्रबल इच्छा करोगे तो भेंट अवश्य होगी। जब यह जगत् है तो इसका शिरोमणि भी है ही। जब जगत् को देख रहे हो तो उसके शिरोमणि को देखना क्या कठिन है ? तुम जगत् के शिरोमणि की शरण मे जाओ। जगत्-शिरोमणि की शरण मे जाने पर तुम्हे अनन्य प्रकार की शान्ति प्राप्त होगी।

कहा जा सकता है कि वह जगत्-शिरोमणि दूर है—परोक्ष है। हम उसकी शरण मे किस प्रकार जाएँ ? इसका उत्तर यह है कि जिसके पैर दिख रहे हैं वह सामने ही है, ऐसा माना जाता है। विद्वानो का कहना है कि जिसका एक अश दिखाई दे रहा है, उस अशी का अस्तित्व भी अवश्य स्वीकार करना चाहिए। जिसका एक अग दीखता है, वह प्रयत्न करने पर सम्पूर्ण भी दिख सकता है।

परमात्मा के विषय मे भी यही बात है। नीची स्थिति के लोग अर्थात् दुखीजन परमात्मा के चरण है, ऐसा मान लेने पर परमात्मा पहचाना जा सकता है। किसी दुखी को देखकर यह समझो कि यह परमात्मा का चरण है। इस प्रकार मानते रहने पर तुम परमात्मा को

प्राप्त कर सकते हो, दुखी को परमात्मा का पैर मानकर परमात्मा को प्राप्त कर सकने के अनेकों उदाहरण हैं। मेघकुमार को दुखी शशक ने ही मेघकुमार वनाया था और राजा मेघरथ को दुखी कपोत ने ही शान्तिनाथ बनाया था। इस तरह आत्मा को ऊँची स्थिति मे चढाने वाले दुखी जीव ही हैं। दुखी या रोगी ही डाक्टर को डाक्टर वनाते हैं। दुनिया मे रोगी न होते तो डाक्टर कहाँ से आते ? और उन्हे चिकित्सक कौन कहता ? अतएव दुखी जीव को देखकर उन पर करुणा लाना ऊँची स्थिति पर चढने का मार्ग है। इसी मार्ग पर चलने से परमात्मा की प्राप्ति होती है। यह मार्ग दयाधर्म भी कहलाता है। दया-धर्म का मार्ग ही आत्मा को ऊँची स्थिति पर चढाने वाला और परमात्मा से भेंट कराने वाला है।

ससार दुखो से व्याप्त है। इस मे शारीरिक मानसिक और आध्यात्मिक दुःख वहुत भरे हुए है। इस विविध प्रकार के दुखो मे भी आध्यात्मिक दुःख सब से बढकर है। इस दुख ने वड-वडे लोगो को भी घेर रखा है। इस आध्यात्मिक दुख को मिटाने के लिए ही दयाधर्म का मार्ग वतलाया गया है।

अगर दयाधर्म का पालन करने से आध्यात्मिक दुख की समाप्ति हो जाती है तो साधु इस मार्ग को क्यो नही अपनाते हैं ? साधु के पात्र मे रोटी मौजूद हो और सामने कोई भूखा आदमी आया हो तो साधु अपने पात्र की रोटी भूखे को नही देते। ऐसी स्थिति मे यह कैसे कहा जा सकता है कि साधु लोग दयाधर्म का पालन करते हैं ?

अगर वे दयाधर्म के पालक हैं तो अपने पात्र की रोटी भूखे को क्यो नहीं दे देते ? जब वे रोटी नही देते तो उन्हें दयालु कैसे कहा जा सकता है ?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि साधु स्वयं तो रोटी बनाते नही हैं, बनी हुई रोटी अपनी भूख मिटाने के लिए गृहस्थ के घर से मागकर लाते हैं। जब कि वे वह रोटी खुद के लिए मांगकर लाए हैं तो फिर दूसरे को कैसे दे सकते हैं ? उन्हे वह रोटी दूसरे को देने का अधिकार नही है। अगर वे अपने लिए लाकर दूसरे को रोटी देदे तो तो अप्रामाणिक ठहरें और गृहस्थ की दृष्टि मे अविश्वास के पात्र गिने जाए। मान लीजिए—आपको किसी ने दस रुपये इसलिए दिये हैं कि आप इन रुपयो को गोशाला मे लगा देना। इसी बीच दस भूखे आदमी आपके सामने आ गये। अब क्या आप उन भूखो को भोजन देने के लिए उन रुपयो का उपयोग कर सकते है ? ऐसा करने का आपको अधिकार नहीं हैं क्योंकि रुपये आपको दूसरे उपयोग के लिए दिये गए हैं। आप उन रुपयो से भूखो को भोजन नही दे सकते, सिर्फ इसी कारण यह नही कहा जा सकता कि आप निर्दय हैं अथवा आप भूखो को भोजन देना बुरा समझते हैं। इसी प्रकार साधु के पास जो भी भोजन है वह स्वय के लिए ही साधु माग कर लाया है। साधु के लिए ही देने वाले ने भोजन दिया है, किसी दूसरे को देने के लिए नही दिया है। ऐसी स्थिति मे साधु अपने पास की रोटी किसी दूसरे को देने का अधिकारी नहीं है। मगर इतने मात्र से यह नही कहा जा सकता कि साधु के दिल में दया नही है। साधु का हृदय दया से परिपूर्ण होता है,

वह दयाधर्म का पालन भी करता है, फिर भी वह विश्वासघात करके या अप्रामाणिकता का सेवन करके अपना भोजन दूसरो को नही देता। अलवत्ता साधु दूसरे प्रकार के दयाधम का पालन करता है। इस सम्बन्ध मे कहा है—

जहा पुन्नस्स कत्थइ तहा तुच्छस्स कत्थइ;
जहा तुच्छस्स कत्थइ तहा पुन्नस्स कत्थइ।

अर्थात्—साधु जिस प्रकार सम्पन्न पुरुष को धर्मोपदेश सुनाता है, उसी प्रकार दरिद्र को सुनाता है और जिस प्रकार दरिद्र का सुनाता है उसी प्रकार सम्पन्न को सुनाता है। साधु को सधन निर्धन मे किसी प्रकार का भेद नही रखना चाहिए। उसे दोनो के प्रति समभावी होना चाहिए। जो धनवान् और निर्धन मे भेद करता है वह साधु नही है। किसी ने यथार्थ कहा है—

धनवत को आदर कर, निर्धन को करे दूर।
ते साधु जाणो मती, रोटी तणा मजूर॥

इस प्रकार साधु धर्म का उपदेश देने में किसी के साथ पक्षपात न करे। ऐसा करने पर ही वह साधु कहला सकता है।

कहा जा सकता है कि अगर विना किसी भेदभाव के साध धर्मोपदेश देता है तो शास्त्र मे राजा आदि को सम्बोधन करके सब बातें क्यो कही गई हैं? इसका उत्तर यह है कि दवा देने वाला पहले उसी को दवा देता है जो ज्यादा रोगी हो। इसी के अनुसार साधु जिसके विषय मे सोचता है कि इस पर ससार के काम का बोझा ज्यादा है और इसको आध्यात्मिक कष्ट ज्यादा है, उसी को सम्बोधन करके

उपदेश देता है, जिसमे उसके साथ ही साथ दूसरो का भी कल्याण हो सके। यद्यपि शास्त्र में जो कुछ कहा गया है वह सारे ससार के लिए है। उससे प्राणीमात्र का समान रूप से हित होता है। फिर भी राजा आदि को सबोधन करने का कारण यह नही है कि साधुओ को उनसे किसी प्रकार की आशा रही हो। जिन्होने उपदेश दिया है उनमे से बहुत-से स्वय राजा थे और राज्य को उपाधि समझकर, उसे त्यागकर साधु बने थे। फिर वे राजाओ से क्या आशा रखते ? उन्हे सबोधन करने का आशय सिर्फ यही है कि उन पर सासारिक कार्यों का बोझा बहुत ज्यादा था और आध्यात्मिक दुख उन्हे बहुत था। आपके सामने दस स्त्रिया अपने सिर पर खाली घडे रखे खडी हो और दस ऐसी हो जिनके सिर पर पानी से भरे घडे हो। अगर आपको उनका बोझ उतारने का मौका आवे तो पहले किसका बोझ उतारेंगे ? निस्सन्देह अगर आप समभावी हैं तो पहले उनका बोझ उतारेंगे जिनके सिर पर ज्यादा बोझ है। इसी प्रकार राजा आदि मे आध्यात्मिकता की ज्यादा कमी देखी, देखा कि वे ससार मे ज्यादा फँसे हैं तो उन्हे सबोधन किया।

आपके सामने आपके पिता खड़े हो और एक राजा भी खडा हो। ऐसी अवस्था मे आप पहले किसे नमन करेंगे ? आप अपने पिता को पहले नमन न करके राजा को ही नमन करेंगे। इसका कारण यह है कि आपका पिता तो सिर्फ आपका पालन करता है और राजा समस्त प्रजा का पालन करता है। महात्मा सब को समान मानते हैं। वे किसी के प्रति भेदभाव नही रखते। फिर भी जिस पर

ज्यादा बोझ देखते हैं और समझाते है कि उसके सुधरने से बहुतो का सुधार हो जायेगा, उसको सम्बोधन करके बात कहते हैं। तात्पर्य यह है कि साधु समान भाव से आध्यात्मिक दुःख मिटाने रूप दया करते हैं। यह दया करने मे वे किसी प्रकार का पक्षपात या भेदभाव नही करते। साधु पुरुषो क हृदय से समान रूप से सभी पर दया का अमृत वरसता है।

इस प्रकार परमात्मा से मिलने का मार्ग दु खी जीवो पर करुणा करना है। कदाचित् आप सब पर दया न कर सके, सब दुखियो की सहायता न कर सकं, तब भी जो दु खी आपके सामने आये, जिसका दु ख दूर करना आपके सामर्थ्य के बाहर न हो, उसका ही दु ख मिटाओ !, उन पर तो करुणा करो। ससार का कोई भी दवाखाना ससार के समस्त रोगियो को दवा नही पहुचा सकता, फिर भी जिस दवाखाने मे किसो प्रकार का भेदभाव नही किया जाता और आने वाले प्रत्येक-प्रत्येक रोगी को दवा दी जाती है, वह सार्वजनिक दवाखाना ही कहलाता है। इसी प्रकार जो पुरुप अपने हृदय मे दया का मार्ग खुला रखता है जिसके दिल मे प्रत्येक दुखिया को स्थान है, वह दयालु ही कहा जाता है। उसके विपय मे यही कहा जायेगा कि वह परमात्मा को प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहा है।

आत्मा, परमात्मा से तभी भेंट सकता है जब वह अपने दुर्गुण आप देखने लगता है और सन्मान पाने की इच्छा का परित्याग कर देता है। जो सन्मान पाने की इच्छा का परित्याग कर देगा, वह अपने पाप दूसरे के समक्ष

प्रकट भी कर देगा। अपने पाप दूसरे पर प्रकट कर देने से आत्मा मे से पुरस्कार का भाव मिट जायेगा और अपुरस्कार भावना उत्पन्न होगी। इस कारण वह अप्रशस्त योग से निकल कर प्रशस्त योग मे प्रवेश करेगा। इसके विरुद्ध जहाँ सम्मान की इच्छा है वहा अपने पापो को प्रकाशित कर देने की शक्ति का अभाव है। ऐसे व्यक्ति म अहभाव होता है। वह प्रशस्त योग में भी नही वर्तता है। जहा पुरस्कार भावना होती है, अप्रशस्त योग रहता है, वहा यह भावना बनी रहती है कि मेरे दुर्गुण प्रकट हो जाएगे तो मेरी निन्दा होगी। इस प्रकार वह व्यक्ति निन्दा से घबराता है। मगर शास्त्र का कथन है कि निन्दा से घबराने का कोई कारण नही है। अवगुण प्रकट कर देने पर निन्दा तो शायद होगी। लेकिन उस निन्दा को सह लेना अप्रशस्त योग से निकल कर प्रशस्त योग मे प्रयाण करना होगा।

जितना अन्तर धूल में और सोने मे, हीरे और ककर में, अथवा विप और अमृत मे माना जाता है, उतना ही अन्तर प्रशस्त योग और अप्रशस्त योग मे है। अगर धूल देने पर सोना, ककर देने पर हीरा और विष देने पर अमृत मिलता हो तो कौन लेने को तैयार न होगा ? अप्रशस्त याग धूल, ककर या विष के समान है। फिर इसे त्याग कर सोने, हीरे और अमृत के समान जो प्रशस्त योग है, उसे कौन न लेना चाहेगा ? अतएव ज्ञानीजनो का कथन है कि निन्दा से घबराओ मत।

आपके कपडे पर कोई दाग लगा हो और दूसरा

उसे साफ कर दे तो क्या आप उस आदमी पर नाराज होगे ? इसी प्रकार जिस निन्दा से आत्मा का दुःख मिटता है, उस निन्दा को सुनकर आप बुरा क्यो मानते हैं ? पापो को स्वय प्रकट कर देने से जो निन्दा होती है, उससे आत्मा के दुःखों का विनाश होता है। भक्त तुकाराम का कहना है कि निन्दक का घर मेरे समीप ही हो तो अच्छा है। वह जब-तब मेरी निन्दा करेगा और उसके द्वारा की हुई निन्दा से मुझे बहुत कुछ जानने को मिलेगा। इससे मेरी अवनति रुकेगी और उन्नति होगी। मेरी आत्मा की अशुद्धि हटेगी और शुद्धि की वृद्धि होगी।

किसी कवि ने राजा से कहा—'आप के शत्रु चिरंजीव हों।' यह विचित्र आशीर्वाद सुनकर राजा नाराज हो गया। दूसरे सुनने वालो को भी इस आशीर्वाद से बुरा लगा। मगर उनमें एक पकी हुई बुद्धि का समझदार आदमी था। उसने राजा से कहा— आप यह आशीर्वाद सुनकर नाराज क्यो होते हैं ? आपको तो प्रसन्न होना चाहिए।

राजा झुंझलाकर कहने लगा – यह तो शत्रुओ के लिए आशीर्वाद दे रहा है! तब उस समझदार आदमी ने कहा— ऐसा आशीर्वाद देकर कवि ने आपका हित ही चाहा है। जब आपके शत्रु जीवित रहेगे तो आप में बल, बुद्धि, पराक्रम और सावधानी जागृत रहेगी। आप सावधानी रखने के कारण ही राजा हैं। राजा को सदा सावधान रहना चाहिए, सावधानी तभी रह सकती है जब शत्रु का भय हो। शत्रु के होने पर ही होशियारी आती है इस

प्रकार कवि ने आपको दुराशीष नही वरन् शुभाशीष ही दिया है। कवि ने सूचित किया है कि आप आलसी और भोग के कीडे मत बन जाना किन्तु बलवान बनना और सावधान रहना। इसमे आपके नाराज होने योग्य कोई बात नही है।

यह तो व्यवहार की बात हुई। मैं आपको आध्यात्मिक बात सुना रहा हूं लोग कहते है-काम, क्रोध, लोभ और मोह आदि हमको हराते हैं। लेकिन ज्ञानी कहते हैं कि यदि ये हराते न हो तो फिर हमारे उपदेश की भी क्या जरूरत है? इसी प्रकार अगर काम, क्रोध आदि हराने का प्रयत्न न करें तो तुम्हारी वीरता का भी पता कैसे लगे? तुम अपनी वीरता किस प्रकार प्रकट करो? लाखो वीरो को जीत लेने वाले वीर की अपेक्षा वह वीर बडा है जो काम को जीत लेता है। काम, क्रोध आदि शत्रुओ के होने से ही ऐसी वीरता प्रकट की जाती है। इन शत्रुओ को जीतने के लिए ही अप्रशस्त योग से निकल कर प्रशस्त योग मे जाने की आवश्यकता है। और इसी उद्देश्य से उपदेश दिया जाता है।

अकसर लोग अपने विरोधी समझे जाने वाले के विषय मे यह सोचते है कि यह मेरा अहित या बुरा करता है, लेकिन इसके स्थान पर अगर यह भावना आ जाये कि दूसरा तो मुझे सावधान करता है, अतएव किसी भी समय मैं उसका अहित न चाहू, तो इस प्रकार की भावना से वह व्यक्ति भी, जिसे आप अपना विरोधी समझते हैं, अवश्य नम्र हो जायेगा।

मतलब यह है कि स्वय गढ्ढा करने से अपुरस्कार भाव उदित होगा । लोगो मे निन्दा होगी । उस निन्दा को सुनकर जो समभावपूर्वक सहन कर लेगा, वह अनन्त कर्मों का घात करेगा ।

भगवान् को 'नमो अरिहताण' कहकर नमस्कार किया जाता है । अर्थात् उसे नमस्कार है जिसने शत्रुओ का हनन किया है । जैसे भगवान् ने अनन्त शत्रुओ का घात किया था, उसी प्रकार आप भी अनन्त शत्रुओ का घात करो । आप भी काम, क्रोध आदि शत्रुओ को जीतो । ऐसा करने से आप भी वैसे ही बन जाएगे ।

सुदर्शन सेठ के सामने अर्जुन माली मुद्गर लेकर आया था। उस समय सुदर्शन ने यही कहा था कि—'प्रभो ! अब तक मैंने निरपराधी को ही मारने का त्याग किया था—अपराधी को मारने का त्याग नही किया था । लेकिन अब अपराधी को भी मारने का त्याग करता हू । नाथ ! मेरी प्रार्थना है, मुझे ऐसी शक्ति दो कि मेरे अन्त.करण में अर्जुन के प्रति लेशमात्र भी द्वेष उत्पन्न न हो । इस प्रकार सुदर्शन ने अर्जुन के प्रति रचमात्र भी द्वेष उत्पन्न नही होने दिया और न वैरभाव ही रखा । फल यह हुआ कि अर्जुन की शक्तिया स्वत. कुण्ठित हो गई वह स्वय नम्र हो गया । अगर आपके अन्त करण मे इसी प्रकार की भावना उत्पन्न हो गई तो निश्चित है कि आपके शत्रु भी आपके पैरो पर पडे बिना नही रहेगे ।

कृष्ण और युधिष्ठिर मे भी शत्रुओ के प्रति क्षमा रखने की ही बात हुई थी । युधिष्ठिर अहिंसा और क्षमा

आदि के लिए प्रसिद्ध हैं। कृष्ण से अर्जुन भी कहा करता था और द्रौपदी भी कहा करती थी कि युधिष्ठिर हमारी बात तो नही ही मानते हैं, पर आपकी बात भी नही मानते और जब आपकी भी नही मानते तो हमारी बात तो मानेगे ही कैसे ? इसके उत्तर मे कृष्णजी ने कहा—यह बात गलत है कि युधिष्ठिर मेरी बात नही मानते। यह बात दूसरी है कि कभी प्रकट रूप मे ऐसा प्रतीत हो कि वे मेरी बात नही मानते हैं, मगर वास्तव मे देखा जाये तो वे पूरी तरह मेरी बात मानते हैं। ससार मे कोई मारकर विजय प्राप्त करना चाहता है, कोई मरकर विजय पाना चाहता है। युधिष्ठिर मरकर विजय प्राप्त करनेवालों मे से हैं और यह मेरी ही बात है। ऐसी दशा मे किस प्रकार कहा जा सकता है कि वे मेरी बात नही मानते !

कृष्ण ने अर्जुन से कहा—मैं जानता हूं कि युधिष्ठिर को स्थूलयुद्ध भी करना होगा और सिर पर राजमुकुट भी धारण करना होगा, लेकिन उस दशा मे भी यह रहेगे धर्मराज और अजातशत्रु ही। इनमे से धर्म की भावना कभी नही जायेगी। अनेक जन्मो के पुण्य का सचय होने पर ही यह स्थिति प्राप्त होती है। युधिष्ठिर पुण्यशाली हैं इसी कारण उन्हे यह स्थिति प्राप्त है।

यो तो ससार में स्थूलयुद्ध अर्थात् मारकाट करनें वाले लोगों का भी मार्ग चलता है लेकिन इस मार्ग के साथ ही मरकर विजय चाहनेवालों का अर्थात् अर्हन्त का मार्ग भी चलता ही है। बीच-बीच मे कोई न कोई महात्मा

ऐसा उत्पन्न होता रहता है जो अपने को इस मार्ग का मुसाफिर बनाता है और जगत् मे अपनी असाधारण विजय की महत्ता स्थापित कर जाता है। यह मार्ग महान् मगलकारी है। विश्व के लिए आशीर्वाद है। कल्याण की कामना है तो परमात्मा के इस पथ पर चलो।

८ : गांधी जी

श्री सुबुधि जिनेश्वर वन्दिये रे।

यह श्री सुबुद्धिनाथ भगवान् की प्रार्थना है। इस प्रार्थना में यह बतलाया गया है कि भगवान् सुबुद्धिनाथ सुबुद्धिनाथ किस प्रकार हुए ? भगवान् सुबुद्धिनाथ को भगवान् पद प्राप्त करने मे जो विघ्न था या जो अन्तराय बाधक हो रहा था, भगवान् ने उसे दूर किया था। उसे दूर करने पर भगवान् सुबुद्धिनाथ का आत्मधर्म प्रकट हुआ था। प्रार्थना मे कही गई बात को सुनकर यह विचार स्वतः उत्पन्न होता है कि—हे प्रभो ? तेरे और मेरे बीच में केवल इतनी ही दूरी है कि तू ने तो विघ्नो को दूर कर दिया है और मैं उन्हे अभी तक दूर नही कर सका हूं। तेरे और मेरे बीच में सिर्फ इतना ही अन्तर है। सिर्फ इतना ही पर्दा है। इतनी सी दूरी के कारण मैं आपसे दूर पडा हू।

हम और आप यह तो समझ गये कि आत्मा और परमात्मा में इतना ही अन्तर है और सिर्फ विघ्नो के दूर होने और न होने का ही पर्दा बीच मे है। मगर प्रधान प्रश्न यह है कि अब हमे करना क्या चाहिए ? इस प्रश्न का उत्तर स्पष्ट है कि अगर हम भगवान् से भेंट करना चाहते हैं तो हमे बीच का पर्दा हटा देना चाहिए।

विघ्नो अन्तरायो को दूर कर देना चाहिए । जब तक ऐसा नही किया जायेगा अर्थात् पर्दे को नही हटाया जायेगा तब तक परमात्मा से भेंट कैसे हो सकती है ? 'अगर कोई इस पर्दे को हटाने का प्रयत्न नही करता तो यही कहा जायेगा कि वह परमात्मा से भेंट नही करना चाहता ।

ससार मे सब से बडी भूल जो हो रही है, वह यही है कि जो वस्तुये परमात्मा से भेट करने मे विघ्न रूप हैं, उन्ही वस्तुओ को लोग हितकारी समझते हैं । इस भूल के कारण आत्मा और परमात्मा के बीच की दूरी बढती चली जाती है । अगर आप इस दूरी को खत्म करना चाहते हैं तो इस पद्धति को पलट दीजिये और सच्ची वस्तु प्राप्त कीजिये ।

भगवान् सुबुद्धिनाथ का 'सुबुद्धिनाथ' नाम केवली पद प्राप्त करने से पहले का है—बाद का यह नाम नही है । केवली पद प्राप्त करने के बाद तो उनके अनन्त नाम हो गये है । हम लोग अपनी क्षुद्र बुद्धि का सदुपयोग नही करते वरन् दुरुपयोग करते हैं । अपनी बुद्धि के सहारे ऐसा तक-वितर्क करते हैं, जिसका करना उचित नही है । इस प्रकार हम भगवान् को प्राप्त करने के मार्ग मे काटे बिखेर लेते है । भगवान् सुबुद्धिनाथ की शरण मे जाने पर बुद्धि का दुरुपयोग मिट जायेगा और सुबुद्धि प्रकट होगी । अत-एव अपनी बुद्धि को सुबुद्धि बनाने के लिए भगवान् की शरण मे जाना उचित है ।

कहा जा सकता है कि यह तो सभी चाहते हैं कि हमारी दुर्बुद्धि मिट जाये और सुबुद्धि का प्रकाश हो, लेकिन

ऐसा होता क्यों नही है ? इसका उत्तर यह है कि आकाश से जो पानी गिरता है, वह तो सर्वत्र समान ही होता है परन्तु पात्र उसे अपने अनुसार ही ग्रहण करता है। इसी प्रकार भगवान् की दृष्टि मे तो शुद्ध स्वरूप से सभी जीव समान हैं लेकिन विकारो के कारण अपनी बुद्धि मे विचित्रता को मिटाने के लिए ही भगवान् सुबुद्धिनाथ की शरण मे जाने की आवश्यकता है। बुद्धि मे विचित्रता किस तरह आ रही है, इस सम्बन्ध मे विचार करने की आवश्यकता है।

"परस्पर विवदमानाना शास्त्राणा
'अहिंसा परमो धर्म.' इत्यत्रैकवाक्यता।"

इसका अर्थ यह है कि और मतभेद तो बहुत हैं मगर अहिंसा परमधर्म है, इस विषय मे किसी का भी मतभेद नही है। अहिंसाधर्म सभी को मान्य है, ऐसा होने पर भी धर्म के नाम पर कितनी खूनखराबी हुई है! जहा धर्म के नाम पर इस प्रकार खूनखराबी हो यानी हिंसा हो, समझना चाहिए कि वहा वास्तविक धर्म नही है। वहा धर्म के नाम पर ढोग किया जाता है। सच्चा धर्म अहिंसा है और अहिंसा के कारण न कही लडाई हुई है और न हो सकती है। अहिंसा, सत्य आदि के कारण न कभी लडाई होती है और न इनके पालन करने मे किसी का मतभेद है। फिर भी इनके या धर्म के नाम पर जो लडाई की जाती है वह केवल अपने हृदय के विकारो के ही कारण की जाती है। अपने हृदय के विकारो को ही धर्म का नाम दिया जाता है और फिर लडाई की जाती है। इस स्थिति को देखकर घबराने की आवश्यकता नही है। ऐसे समय

पर व्यक्ति को स्वातन्त्र्य का विचार करना चाहिए। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के बिना धर्म नही टिक सकता। कोई भी धर्म यह नही कहता कि परस्पर लडो और एक दूसरे को दुःख पहुचाओ। फिर भी धर्म के नाम पर जो दूसरों को दुख देता है वह धर्म को नही जानता है। इस प्रकार बुद्धि मे विचित्रता आ रही है। इसे मिटाने के लिए सुबुद्धिनाथ की शरण मे जाना चाहिए। भगवान् सुबुद्धिनाथ की शरण मे जाने से बुद्धि की विचित्रता मिट जायेगी।

लोग मुझे अहिंसाधर्म का प्रचारक कहते हैं पर वास्तव मे मैं अहिंसाधर्म का सेवक हूं। अहिंसाधर्म के प्रचार की योग्यता मुझ मे अभी नही आई ह। मेरे भीतर जो विकार मौजूद है, उन्हे मैं जानता हू। कोई कह सकता है कि अगर मुझ में विकार मौजूद है तो मैं अहिंसाधर्म का उपदेश क्यो देता हूं? इसका उत्तर यही है कि ऐसा करने मे भी मे अपनी आत्मा का हित देखता हू। अपने विकारो को जीतने का यह भी एक मार्ग है। मैं इतने श्रोताओ के समक्ष जो कुछ कहता हू—श्रोताओ को जिस कर्त्तव्य की ओर प्रेरित करता हू, मेरा कर्त्तव्य हो जाता है कि मैं स्वय उसका पालन करू। अगर मैं ऐसा न करू, मैं जो कहता हू उसमे अपने आपको न लगाऊँ और विपरीत ही व्यवहार करू तो यह उलटे मार्ग पर चलना होगा। अतएव मैं भगवान् की शरण मे जाकर प्रार्थना करता हू कि मेरी बुद्धि मे किसी समय विकृति न आवे और मैं जैसा दूसरो के सामने बोलता हूं उसी के अनुसार स्वय भी व्यवहार करू। प्रत्येक मनुष्य का यही कर्त्तव्य है कि वह अपनी बुद्धि मे किसी भी क्षण विकृति न आने दे और भगवान्

सुबुद्धिनाथ की शरण से अपनी बुद्धि को सदा निर्मल रखे। भले ही ऐसा करने मे कितने ही सकट क्यो न आयें।

प्राचीनकाल के पुरुषो के अनेक उदाहरण ऐसे मिलते हैं कि घोर सकट आने पर भी उन्होने अपनी बुद्धि को स्वस्थ रखा था। बुद्धि मे किसी प्रकार का विकार नही आने दिया था। उन उदाहरणो को देखकर कोई खयाल कर सकता है कि वास्तव मे ही ऐसी घटना घटी है या यह केवल कल्पना ही है? लेकिन जब वर्तमान मे भी उन उदाहरणो की पुनरावृत्ति— आंशिक रूप मे या पूर्ण रूप मे—दिखाई देती हो तो मानना ही चाहिए कि पहले के उदाहरण काल्पनिक नही है। वे वास्तविक हैं। वर्तमान के उदाहरणो से यह विश्वास होता है कि पूर्वकाल के उदाहरणो मे जिन बातो का उल्लेख मिलता है, उनमे असत्य नही है। उदाहरणार्थ—अहिसा, सत्य आदि के विषय मे जो पूर्वकालीन वृत्तान्त हमारे समक्ष हैं, उनको सच्चाई समझने के लिए वर्तमान मे गाधीजी प्रमाण रूप हो जाते हैं।

गाधीजी का जन्म पोरबदर मे हुआ था। मैंने पोरबदर देखा है और वहा के राजा भी मेरा व्याख्यान सुनने आये थे। पोरबदर के राजा साहब से बातचीत करने पर मालूम होता है कि गाधीजी के विचारो की छाप उन पर लगी है। वह अपने राज्य मे गाधीजी के विचारो के अनुसार सुधार करने के लिए उत्सुक हैं। वे देशहित के कामो का प्रचार करनेवाले लोगो को प्रचार करने का अवसर देते हैं। मेरी मौजूदगी मे वहां डाक्टर पट्टाभि सीतारामैया भी आये और उनका सार्वजनिक सभा मे भाषण हुआ।

सभा में भाषण देने में उन्हे कोई दिक्कत नही उठानी पडी, जैसी कि कई दूसरी रियासतो में उठानी पड़ती है। इससे पोरवदर मे गाधीजी के प्रभाव के विषय में बहुत कुछ जानकारी हो जाती है।

आज गांधीजी की जन्मतिथि है। साधु किसी की जन्मतिथि नही मनाते हैं, लेकिन आज मैं बतलाना चाहता हूं कि गाधीजी ने अहिंसा के प्रभाव को किस प्रकार प्रकट किया है ? पंजावकेसरी लाला लाजपतराय का जन्म जैन परिवार मे हुआ था। उनके दादा या किसी दूसरे पूर्वज ने साधुमार्गी समाज मे ही दीक्षा भी ली थी। लेकिन लाला लाजपतराय को कोई ठीक तरह जैन सिद्धान्त समझाने वाला नही मिला। अतएव उनके विचारो मे परिवर्तन हो गया और वे आर्यसमाजी बन गये। मगर आर्यसमाज से भी उन्हे सतोष नही हुआ। वे कहने लगे—तलवार के वल के विना देश का कल्याण नही हो सकता। उन्होने यह भी कहा कि जैनों और बौद्धो की अहिंसा ने देश को कायर बना दिया है। जब तक यह कायरता नही मिटेगी, देश का कल्याण नही होगा।

इस प्रकार लाजपतराय अहिंसा के विरोधी हो गये। जब गांधीजी ने अहिंसा का प्रचार आरभ किया तब उन्होने गाधीजी को एक पत्र लिखा। उसमे उन्होने लिखा कि देश पहले ही कायर बना हुआ है। आप अहिंसा का उपदेश देकर उसे इस समय और अधिक कायर क्यो बनाते हैं जब कि उसमे कुछ जागृति आई है। गाधीजी ने लालाजी के पत्र का उत्तर दिया और कहा जाता है कि लम्बे अर्से तक

दोनों के बीच पत्रव्यवहार होता रहा । अन्त मे लालाजी, गाधीजी के उत्तर से प्रभावित हो गये । उन्होने बम्बई में गाधीजी और डाक्टर एनी बीसेंट आदि के समक्ष खुले हृदय से कहा कि इतने लम्बे समय के पत्रव्यवहार के पश्चात् मैं स्वीकार करता हू कि सत्य और अहिंसा की शक्ति महान् है और मैं उस शक्ति को मस्तक झुकाता हू ।

लाला लाजपतराय दिमागदार आदमी थे । उस समय भारत मे लाल, बाल (बाल गगाधर तिलक) और पाल (विपिनचन्द्र पाल) प्रसिद्ध थे । उन लाला लाजपतराय से भी गाधीजी ने अहिंसा का महत्त्व स्वीकार करा लिया । अहिंसा का परिणाम तत्काल दिखाई नही देता किन्तु हिंसा का परिणाम तत्काल दिखाई देता है । इसलिए आम तौर पर राजनीति में हिंसा को ही स्थान दिया जाता है । लेकिन गाधीजी ने अपने असाधारण बुद्धिकौशल से, अपनी पारदर्शिनी प्रतिभा से अहिंसा के प्रबल सामर्थ्य को देख लिया और इस कारण उन्होने राजनीति मे भी उसे स्थान दिया । गाधीजी राजनीति को जीवननीति से सर्वथा भिन्न करके नही देखते हैं । वह तो जीवननीति का ही एक अग है और जब जीवननीति में अहिंसा की आवश्यकता है तो राजनीति में अहिंसा अलग कैसे रह सकती है ? मगर सारा ससार जब हिंसात्मक राजनीति मे डूबा हो तब राज-नीति में अहिंसा को दाखिल कर देना कितना कठिन काय है ? फिर भी गाधाजी ने यही किया । कठिनाइयो पर विजय पाना तो उनके जीवन का मूल-मत्र ही है ।

बगाल के रवीन्द्रनाथ ठाकुर को 'कवि सम्राट' की पदवी

प्राप्त है। भारत में ही नही, सम्पूर्ण संसार मे उनको बडी प्रतिष्ठा है। उनके और गाधीजी के कतिपय विचारों में भले मतभेद रहे मगर गाधीजी के अहिंसा के गुण को वे भी मस्तक ही झुकाते है। इससे आप को यह सीखना चाहिये कि आप में आपस मे किसी प्रकार का मतभेद भले ही हो, पर अहिंसा के विषय मे तो किसी प्रकार का मतभेद नही होना चाहिए।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर जब अमेरिका गये तब वहां के लोगो ने उनसे कहा—हम भारत के गाधी की बडी प्रशसा सुनते हैं। आपने तो उन्हे देखा होगा आप उनके सबध में अपने विचार प्रकट कीजिये। रवि बाबू ने कहा—मैंने गाधीजी को देखा तो है, मगर जिस रूप मे मैंने उन्हे देखा है, उसका मैं वर्णन नही कर सकता। गाधीजी की प्रशसा उनके शरीर के कारण नही है। शारीरिक दृष्टि से दुर्बल होने पर भी वे महान् हैं।

भूतवादी लोग सब करामात भूतो की ही मानते हैं। इस दृष्टि से जिसका शरीर महान् हो उसी को महान् होना चाहिए और जिसका शरीर दुर्बल हो, उसे तुच्छ होना चाहिए। मगर गाधीजी का उदाहरण भूतवादियो की मान्यता को गलत प्रमाणित करता है। रवीन्द्रनाथ ने कहा—गाधीजी शरीर से बहुत दुबल दिखाई देते हैं, मगर उनमें तीन बातें ऐसी हैं जिनके कारण वे महान् माने जाते हैं और वे बातें उनकी महत्ता को प्रकट करती हैं। पहली बात यह है कि उनमे निर्भयता है। मैं कवि सम्राट् कहलाता हू, फिर भी यदि कोई व्यक्ति छुरा लेकर मुझे मारने

आयेगा और मैं जान पाऊँगा तो बिना भागें नही रहूगा। मेरे हृदय मे भय का सचार होगा। लेकिन कोई गाधीजो को मारने के लिए छुरा लेकर उनके सामने आयेगा तो उस समय वे ऐसे प्रसन्न होगे, जैसे पहले नही थे।

कविसम्राट् फिर कहने लगे—'गाधीजी मे दूसरी विशेषता सत्य पर दृढता है। अगर अमेरिका की समस्त सम्पत्ति उनके समक्ष रख दी जाये और उनसे सत्य का परित्याग करने के लिए कहा जाये तो गाधीजी उस विशाल सम्पत्ति को ठुकरा देंगे, मगर सत्य का परित्याग नही करेंगे।'

मित्रो ! गाधीजी इतनी सम्पत्ति मिलने पर भी सत्य को नही त्याग सकते। लेकिन आप लोगो मे कोई ऐसा तो नही है जो चार-आठ आने के लिए सत्य को छोडकर झूठ का सहारा लेता हो ? अगर कोई ऐसा है तो उसे अपने कार्य के लिए पश्चात्ताप करना चाहिए और भविष्य के लिए सावधान होना चाहिए। भीलो के विषय मे कहा जाता है कि वे शपथ खा जाने के बाद, मौत से बचने के लिए भी झूठ नही बोल सकते। ऐसी दशा मे आप शिक्षित और सस्कारी होने का दावा रखते हुए भी अगर शपथ खाकर झूठ बोलें तो कितना अनुचित है ?

सत्य के प्रति गाधीजी की दृढता के आधार पर यह भी सोचा जा सकता है कि जब आज भी इतना सत्य विद्यमान है तो अरिहतो के समय मे पूर्णसत्य हो तो क्या आश्चर्य है ? कामदेव श्रावक के सामने घोर भय उपस्थित किया गया था, फिर भी उसने सत्य नही छोड़ा था। सीता

को बेहद प्रलोभन दिये गये थे मगर उसने सत्य का परित्याग नही किया था। गाधोजी मे सत्य के प्रति जो दृढता है, उसे देखते हुए प्राचीनकाल की इन घटनाओ को कैसे असत्य कहा जा सकता है ? इस गये-गुजरे जमाने मे भी जब गाधीजी जैसे सत्यभक्त मौजूद है तो पूर्व समय मे कामदेव जैसे श्रावको के सत्य पर अटल रहने में कैसे शका की जा सकती है ?

आगे कहते हुए कविसम्राट् बोले - 'गाधीजी में ऐसी प्रामाणिकता है कि उन्हे कितनी ही सम्पत्ति क्यो न दी जाये, उसे वे उसी काम मे लगाएँगे जिस काम के लिए वह दी गई होगी। वे उस सम्पत्ति मे से अपने लिए एक भी पैसा नही खर्चेंगे।'

एक ओर गाधोजी मे इतनी प्रामाणिकता है और दूसरी ओर क्या देखा जाता है ? कई लोग अपने पास जमा धर्मादा खाते की रकम मे से कुछ देकर कीर्त्ति उपार्जन करते हैं। इतना ही नही, बहुत-से लोग तो धर्मादे की ही रकम हजम कर जाते हैं। ऐसे लोगो का क्या गाधीजी की प्रामाणिकता से शिक्षा नही लेनी चाहिए ?

कविसम्राट् रवीन्द्रनाथ ने गाधीजी के सबध मे जो कुछ कहा, उसे सुनकर अमेरिका के बडे-बड़े पादरियो ने कहा—'जब गाधी ऐसा है तो कहा जा सकता है कि ससार में सबसे बड़ा पुरुप महात्मा गाधी ही है।' इस प्रकार गाधीजी के गुणो से प्रभावित होकर लोगो ने स्वीकार किया कि गाधीजी ससार के सबसे बड़े पुरुप है।

रवि बाबू ने गाधीजो की कतिपय विशेपताओं का

ही जिक्र किया है। उनमे और जो गुण हैं, उनके विषय में तो वही पूरी तरह कह सकता है जिसने सन्निकट रह-कर अभ्यास किया हो। फिर भी कहा जा सकता है कि गाधीजी मे कुछ गुण ऐसे हैं जो उनका महत्त्व बढाते हैं और जो सब के लिए अनुकरणीय भी हैं। उनमे कितना सेवाभाव है, इस सबंध मे श्रीनिवास शास्त्री ने कहा है। श्रीनिवास शास्त्री नरमदल के नेता हैं और राजनीतिक विषयो में गाधीजी से उनका मतभेद भा रहता है। श्रीनि-वास शास्त्री ने सन् १६१८ मे यूरोप मे देखा कि गाधीजी उन लोगो की भी अपने हाथ से पट्टी बाध रहे हैं जो कोढ आदि भयकर घृणास्पद और छूत की बीमारियो से पीडित हैं। यह देखकर शास्त्रीजी का हृदय पलट गया और उन्हे पश्चात्ताप हुआ कि मैं ऐसे सेवाभावी पुरुप की अवज्ञा करके अपराध कर रहा हू।

गाधीजी तो इस तरह के लोगो की सेवा करते है लेकिन आप लोग अपने घर के लोगो की या अपने सह-धर्मियो की भी सेवा करते है या नही ? किसी को दुखी देखकर यह तो नही कहते कि यह तो अपने कर्मों का फल भोग रहा है ! हमे इससे क्या सरोकार—ऐसा कहना अपनी वाणी का दुरुपयोग करना है। हाथी के भव मे मेघकुमार ने कहा होता कि यह खरगोश तो अपने कर्मों का फल पाता है, तो क्या वह मेघकुमार हो सका होता ? क्या भगवान् उसके विषय मे ऐसा कहते कि—मेघकुमार! तुमने शशक पर दया की थी, इस कारण तुम मेघकुमार—श्रेणिक के पुत्र हुए हो ! अतएव जब कभी कोई दुखी प्राणी दृष्टिगोचर हो तो सोचना चाहिए—यह अपने कर्मों का

फल भोग रहा है, लेकिन हमें इसकी सेवा करनी चाहिए। इस प्रकार विचार करने से ही सेवाभावना कायम रहती है। शास्त्र का यही आदेश है कि स्वयमेव सेवा करने की भावना रखो। शास्त्र का तो यह आदेश है किन्तु आप लोगो को दूसरो की सेवा करना बहुत कठिन जान पडता है। गाधीजी जैसी महिमा आपको मिले तो आप फौरन उसे लेने के लिए तैयार हो जाएँगे, लेकिन गाधीजी की तरह सेवा करने के लिए कितने लोग तैयार हैं? गाधीजी का सेवाभाव देखकर उनके विरोधी का भी हृदय पलट गया और वह उनके व्यक्तित्व से प्रभावित हो गया।

जैनशास्त्र में क्षमा को सबसे बड़ा गुण कहा है। दस प्रकार के यतिधर्मो मे क्षमा को पहला स्थान दिया है। साथ ही क्षमा कैसी होती है और वह किस सीमा तक रखी जा सकती है, यह बतलाने के लिए गजसुकुमार मुनि का उदाहरण भी दिया गया है। कहा जा सकता है कि जरा-सा बिच्छू काटने का कष्ट सहना भी कठिन हो जाता है तो मस्तक पर जलने वाली आग के दुख को किस प्रकार सहन किया गया होगा? लेकिन आज क्षमा के जो उदाहरण सुने जाते हैं, उन पर से इस प्रकार का सदेह मिट जाता है और ऐसा सदेह रखने वालों को भी मानना पड़ता है कि जब इस समय भी ऐसी अपूर्व क्षमा करने वाले पुरुष मौजूद है तो प्राचीनकाल मे सिर पर जलने वाले अगारो से न घबराकर अगर गजसुकुमार मुनि ने क्षमा रखी तो कोई आश्चर्य की बात नही है।

गाधीजी मे क्षमावृत्ति कैसी है, इस सबध में एक

उदाहरण सुना गया है । उन्होने दक्षिण अफ्रीका मे सत्याग्रह का युद्ध छेडा था । उस समय एक पठान को यह सदेह हो गया कि गाधीजी ने हमे तो सरकार के विरुद्ध सत्याग्रह मे लगा रखा है आप स्वय सरकार से मिल गया है ! ऐसा सदेह होने पर पठान को बहुत क्रोध आया । उसने सोचा— अगर गाधी मुझे मिल जाये तो उसे जिन्दा नही रहने दूगा ।

सचमुच एक दिन गाधीजी पठान को मिल गये । उसने गाधीजी को उठाकर गटर मे डाल दिया । गाधीजी को चोट आई और वे बेहोश हो गये । उनके मित्र उन्हे अस्पताल मे ले गये । जब वे होश मे आए तो उन्होने पूछा— बात क्या है ?

मित्रो ने कहा— अमुक पठान ने आपको गटर मे फेंक दिया था । आपको अमुक-अमुक जगह चोट आई है । आप जरा अच्छे हो जाइये, तब उस पर मुकदमा चलाया जायेगा ।

उस समय गाधीजी ने कहा—मैं अपने एक भाई पर मुकदमा चलाऊँ ? यह कैसे सभव हो सकता है ? मेरे हृदय मे क्षमाभाव है या नही, इस बात की कसौटी हुई है । गन्ना जब खेत मे रहता है तब भी मीठा रहता है, पेला जाता है तब भी मीठा रहता है, उबाला जाता है तब भी मीठा रहता है और जब गुड या शक्कर बनता है तब भी मीठा रहता है । वह अपने स्वभाव को किसी भी हालत नही छोड़ता । ऐसी दशा मे मैं अपने भाई पर कैसे मुकदमा चला सकता हू ! चलो, उस भाई के पास चले और इस कसौटी पर कसने के लिए उसका उपकार मानें ।

और चर्बी लगे हुए वस्त्रो की अपेक्षा खादी में अधिक खर्च भले जान पड़ता हो, मगर आपको यह भी सोचना चाहिए कि खादी के निमित्त खर्च किया हुआ प्रत्येक पैसा देश के गरीब भाइयो के पास ही पहुचता है। इसके विपरीत मेंचेस्टर के मलमल मे लगा हुआ पैसा विदेशो में जाता है और उससे गरीव देशवासियो की रोटी मारी जाती है। अगरेज लोग अपने देश की चीजो का वहुत ख्याल करते है और कई गुनी कीमत चुकाकर भी अपने ही देश की चीज खरीदते हैं। ऐसा न करना उन्हें देशद्रोह मालूम होता है। क्या स्वदेशी वस्तुओं की अपेक्षा करके विदेशी वस्तुए खरीद करके आप देशद्रोह के भागी नही होते ?

यह तो निश्चित है कि खादी के लिए जो ज्यादा पैसे देने पडते हैं वे गरीव देशबन्धुओं के पास पहुंचते हैं और मिल के वस्त्रों के पैसे विशेषत. विदेशी पू जीपतियों के पल्ले पडते है। एक वार किसी ने वतलाया था कि मद्रास के राजगोपालाचार्य ने खादी के प्रयोग का एक कारखाना खोला था। उस कारखाने के द्वारा १५८ ग्रामों के गरीवो का दुष्काल के समय गुजारा चला। इस प्रकार छोटे-छोटे कार्यों द्वारा भी गरीवों की किस प्रकार सहायता की जा सकती है इस वात पर विचार करो और खादी तथा मिल के वस्त्रो में होने वाले आरभ-समारभ का भी विचार करो और देखो कि अल्पआरभ किसमें है और महारभ किसमें है ? तव आपको मिल के और खादी के वस्त्रो का अन्तर प्रतीत हो जायेगा। खादी पहिनने के कारण आज आपको कुछ असुविधा भी उठानी पड़ती हो तो भी परवाह मत करो। आखिर तो यह अल्पारभी ही परमात्मा

के सन्निकट माने जाएंगे । अब खादी पहनने में शारीरिक कष्ट भी तो नही है, क्योकि खादी भी अच्छी से अच्छी बनने लगी है । पहले इस देश मे बहुत बढिया कपडा बनता था । कहते हैं कि ढाके की मलमल का सात सौ रुपये का थान बिकता था । यूरोप की स्त्रिया भी ढाके की मलमल पहनने के लिये ललचाती थी और जो पहनती थी वे गर्व का अनुभव करती थी । इतिहास के अनुसार ढाके के इस व्यवसाय को बडी बेरहमी के साथ खत्म किया गया । यहा तक कि मलमल बनाने वाले लोगो के अंगूठे भी कटवा दिये गये । यह निर्दयता मिल के चर्बी वाले वस्त्रो के लिए ही की गई थी !

मतलब यह है कि गाधीजी ने दया से प्रेरित होकर, वेश्याओ के कपडे देखकर अपने वस्त्र सीमित कर लिए । गाधीजी ने तो इतना त्याग किया लेकिन आप क्या चर्बी लगे वस्त्रो का भी दया के खातिर त्याग नही कर सकते ?

चर्बी के कपडे का विचार अव्रत (महारभ) की क्रिया की दृष्टि से भी विचारणीय है । मेचेस्टर मे बना हुआ कपडे का एक टुकडा भी पहनने से मेचेस्टर को अव्रत की क्रिया लगती है या नही ? इतना होने पर भी आप चर्बी लगे मिल के वस्त्र त्यागने को तैयार नही हैं ?

गाधीजी के हृदय मे कितनी दया है, इस सम्बन्ध मे एक उदाहरण और लीजिये । सुना है कि राजकोट के ठाकुर साहब लाखाजीराज गाधीजी पर सद्भाव रखते थे । गाधीजी जब राजकोट गये तो लाखाजीराज ने उन्हे मान-

गांधीजी उस पठान के पास पहुंचे। उनकी बातें सुनकर पठान का हृदय पलट गया। वह पश्चात्ताप करने लगा कि लोगो ने मुझे भ्रम में डाल दिया और इसी कारण मै भयानक अनर्थ कर बैठा! इस प्रकार पश्चात्ताप करके वह गांधीजी के पैरो में गिर पडा और क्षमा माँगने लगा।

अगर गाधीजी उस पठान पर मुकदमा चलाते तो पठान के हृदय मे वैसा परिवर्तन न होता जो उदारतापूर्ण क्षमाभाव प्रदर्शित करने के कारण हुआ।

गाधीजी ने उस पठान पर भो मुकदमा नही चलाया, लेकिन लोग अपने सगे भाई पर भी मुकदमा चलाने से बाज नही आते! क्या आप मे कोई ऐसा है जो अपने भाई पर अदालत मे मुकदमा चलाने का त्याग करने को तैयार हो? जिन हाकिमो के सामने भाई-भाई के मुकदमे आते हैं, वे इस विचार से और अधिक शिक्षा ले सकते हैं कि ससार मे किस तरह की आग लग रही है! यहां भाई भाई का दुश्मन बन जाता है!

गाधीजी की क्षमा के उदाहरण से यह समझा जा सकता है कि जब इस काल में भी इस तरह क्षमा करने वाले मौजूद हैं× तो भगवान् नेमिनाथ के समय मे गजसु-

×गाधीजी का जीवन ज्यो-ज्यो अग्रसर होता गया, उनकी क्षमाभावना बढती गई। अन्तिम दिनो वह इतनी बढ गई थी कि बम फेंक कर अपने प्राण लेने की चेष्टा करने वाले पुरुष को भी क्षमा कर दिया था और उसे दण्ड न देन के लिए सरकार से अपील की थी। गाधीजी को अवकाश मिलता तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वे अपने हत्यारे को भी क्षमा कर देने को अपील करते।

—सम्पादक

कुमार सरीखे क्षमामूर्त्ति महापुरुष हो तो क्या आश्चर्य है !

गाधीजी की दया के सम्बन्ध मे भी एक घटना सुनी है। दया का पात्र प्राय दुर्गुणी होता है। जिसे जगत् के सामान्य लोग दुत्कारते हैं, दयालु उस पर भी दया करते है। आज बहुत-से लोग मुह से दया-दया तो कहते हैं मगर दया के खातिर करते कुछ नही हैं। लेकिन गाधोजी ने दया के लिए क्या किया, यह ध्यान देने योग्य बात है। गाधोजी एक बार गन्तूर गये थे। वहा वेश्याओ ने भी एक सभा का आयोजन किया और गाधीजी से मिलने का विचार किया। गाधीजी ने कहा—वे भी मेरी बहनें हैं, इसलिए प्रसन्नता से मिल सकती है। वेश्याएँ उनसे मिलने गई। गाधीजी ने वेश्याओ के वस्त्र देखकर उनसे कहा—बहिनो ! तुम ऐसे गँदे वस्त्र तो मत पहना करो। वेश्याओ ने कहा - आप इन वस्त्रो को गदे कहते हैं, लेकिन हमारे पास यही वस्त्र हैं—दूसरे वस्त्र ही नही हैं।

वेश्याओ का उत्तर सुनकर गाधीजी ने सोचा—मेरी यह बहिनें ऐसा नीचा धधा करती हैं, फिर भी इन्हे पूरो तरह वस्त्र नही मिलते। तो दूसरे गरीब भाइयों की क्या दशा होगी ? उन्हे ऐसे भी वस्त्र प्राप्य न होते होगे ! इस प्रकार विचार कर उन्होने सब कपडे त्याग दिये। तब से वे एक लगोटी और एक चादर मे ही रहने लगे।

यह दया का कितना उत्कृष्ट उदाहरण है ? आप तो दया के लिए चर्बी के वस्त्र भी नही त्याग सकते ! अगर आप दयाधर्म का पालन करें तो आपका भी कल्याण हो और दूसरो का भी कल्याण हो। आपको मिल मे बने

और चर्बी लगे हुए वस्त्रो की अपेक्षा खादी में अधिक खर्च भले जान पड़ता हो, मगर आपको यह भी सोचना चाहिए कि खादी के निमित्त खर्च किया हुआ प्रत्येक पैसा देश के गरीब भाइयो के पास ही पहुचता है। इसके विपरीत मेंचेस्टर के मलमल मे लगा हुआ पैसा विदेशों मे जाता है और उससे गरीब देशवासियो की रोटी मारी जाती है। अगरेज लोग अपने देश की चीजों का बहुत ख्याल करते हैं और कई गुनी कीमत चुकाकर भी अपने ही देश की चीज खरीदते हैं। ऐसा न करना उन्हे देशद्रोह मालूम होता है। क्या स्वदेशी वस्तुओ की अपेक्षा करके विदेशी वस्तुए खरीद करके आप देशद्रोह के भागी नही होते ?

यह तो निश्चित है कि खादी के लिए जो ज्यादा पैसे देने पडते हैं वे गरीब देशबन्धुओं के पास पहुंचते हैं और मिल के वस्त्रो के पैसे विशेषत: विदेशी पूजीपतियो के पल्ले पड़ते हैं। एक बार किसी ने बतलाया था कि मद्रास के राजगोपालाचार्य ने खादी के प्रयोग का एक कारखाना खोला था। उस कारखाने के द्वारा १५८ ग्रामों के गरीबो का दुष्काल के समय गुजारा चला। इस प्रकार छोटे-छोटे कार्यों द्वारा भी गरीबो की किस प्रकार सहायता की जा सकती है इस बात पर विचार करो और खादी तथा मिल के वस्त्रो में होने वाले आरभ-समारभ का भी विचार करो और देखो कि अल्पआरभ किसमे है और महारभ किसमें है ? तब आपको मिल के और खादी के वस्त्रो का अन्तर प्रतीत हो जायेगा। खादी पहिनने के कारण आज आपको कुछ असुविधा भी उठानी पड़ती हो तो भी परवाह मत करो। आखिर तो यह अल्पारभी ही परमात्मा

के सन्निकट माने जाएंगे । अब खादी पहनने में शारीरिक कष्ट भी तो नही है, क्योंकि खादी भी अच्छी से अच्छी बनने लगी है । पहले इस देश मे बहुत बढिया कपडा बनता था । कहते हैं कि ढाके की मलमल का सात सौ रुपये का थान बिकता था । यूरोप की स्त्रिया भी ढाके की मलमल पहनने के लिये ललचाती थी और जो पहनती थी वे गर्व का अनुभव करती थी । इतिहास के अनुसार ढाके के इस व्यवसाय को बडी बेरहमी के साथ खत्म किया गया । यहा तक कि मलमल बनाने वाले लोगो के अगूठे भी कटवा दिये गये । यह निर्दयता मिल के चर्बी वाले वस्त्रो के लिए ही की गई थी !

मतलब यह है कि गाधीजी ने दया से प्रेरित होकर, वेश्याओ के कपडे देखकर अपने वस्त्र सीमित कर लिए । गाधीजी ने तो इतना त्याग किया लेकिन आप क्या चर्बी लगे वस्त्रो का भी दया के खातिर त्याग नही कर सकते ?

चर्बी के कपडे का विचार अव्रत (महारभ) की क्रिया की दृष्टि से भी विचारणीय है । मेंचेस्टर मे बना हुआ कपडे का एक टुकडा भी पहनने से मेंचेस्टर को अव्रत की क्रिया लगती है या नही ? इतना होने पर भी आप चर्बी लगे मिल के वस्त्र त्यागने को तैयार नही हैं ?

गाधीजी के हृदय मे कितनी दया है, इस सम्बन्ध मे एक उदाहरण और लीजिये । सुना है कि राजकोट के ठाकुर साहब लाखाजीराज गाधीजी पर सद्भाव रखते थे । गाधीजी जब राजकोट गये तो लाखाजीराज ने उन्हे मान-

पत्र देने का विचार किया और इसके लिए पेरिस से एक सुन्दर सदूक बनवाकर मँगवाया। उसमे रखकर गाधीजो को मानपत्र दिया जाना था। सदूक बहुत सुन्दर था, लेकिन जिसके हृदय मे गर्हाभाव हुआ है वह दूसरो के पाप को ही अपना पाप मानता है। बेटा जब रोगी होता है तो बाप भी इसके लिए अपना अभाग्य समझता है। साधारण लोग अपने बेटे को ही बेटा मानते हैं, लेकिन जिसकी भावना विशाल और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की होती है, वह दूसरे के पापो के लिए भी अपने को उत्तरदायी समझता है।

गाधीजी ने राजकोट मे ही शिक्षा पाई थी और वही पर साधुमार्गी जैन महात्मा बेचरजी स्वामी के समक्ष मदिरा, मास और परस्त्री सेवन का त्याग किया था। गाधीजी ने इन प्रतिज्ञाओ का बडी दृढता के साथ पालन किया। अनेक प्रकार के कष्ट झेलकर भी उन्होने अपनी प्रतिज्ञाओ को निबाहा।

मेरे सबध मे कहा जाता है कि मैं दूसरा त्याग करने-कराने के लिए तो बहुत कहता हू मगर लीलोत्तरी (वनस्पति), जमीकन्द आदि के त्याग के लिए कम कहता हू। पूज्य श्रीश्रीलालजी महाराज इसके सबध मे बहुत कहा करते थे। मेरे विषय मे ऐसा कहा जाता है किन्तु आज जिस तरह के बडे-बडे पाप फूट निकले हैं, वैसे पहले नही थे। ऐसी दशा मे पहले बडे पाप का त्याग कराया जाये या छोटे पाप का? इस समय जमीकन्द त्यागने का उपदेश दूँ या चर्बी लगे मिल के वस्त्रा के त्याग का उपदेश दूँ? पहले

बड़े पापो के त्याग का उपदेश देना अधिक लाभदायक होता है। बड़े पापों की ओर ध्यान न देकर छोटे पापो को मिटाने का प्रयत्न करना कैसे उचित कहा जा सकता है ?

लाखाजीराज पेरिस से बनकर आये हुए सदूक मे गाधीजी को मानपत्र देने लगे ? उस समय गाधीजी ने कहा मेरे लाखो भाई तो रोटी के बिना दुख पा रहे हैं, फिर मुझे इस प्रकार के सदूक मे रखकर मानपत्र देना क्या मेरी हँसी कराना नही है ? मेरे घर मे इस सदूक को रखने की जगह भी तो नही है ! गाधीजी का यह उदार-भाव कितना सराहनीय है ?

गाधीजी का सादगी का क्या बखान किया जाये ? उनके विचार में और आचार मे स्पृहणीय सादगी है। उनका भोजन, लिवास आदि सभी कुछ आपके समक्ष आदर्श सादगी का नमूना पेश करते हैं। वास्तव मे जहा दयालुता होती है वही ऐसी सादगी रह सकती है। श्रीमताई का आडम्बर त्यागे बिना न दया आती है; न सादगी आती है। इसीलिए गाधीजी ने श्रीमताई का ठाठ त्यागा है, अन्यथा वे श्रीमत की तरह भी रह सकते थे। उनके लड़के ने उन्हे पत्र लिखा था कि आप बडे आदमी माने जाते हैं, आप बैरिस्टर हैं और बुद्धिमान् हैं। अतएव किसी ऐसे व्यवसाय की बात सोचिये जिससे अपन श्रीमत बन जाएँ। इस पत्र का उत्तर देते हुए गाधीजी ने लिखा था कि मैं सुदामा और नरसी मेहता से भी ज्यादा गरीब बनना चाहता हू। तुम ज्यादा श्रीमत बनना चाहते हो और मैं

ज्यादा गरीव वनना चाहता हूं । ऐसी स्थिति में मेरा और तुम्हारा मेल कैसे बैठ सकता है ?

आज के अधिकाश श्रीमान् श्रीमताई के ढोग में फसकर गरीवो की ओर ध्यान नही देते और न दुखियों की सहायता करते हैं । मगर ऐसा करके वे अपने लिए ही सकट को आमन्त्रित कर रहे हैं। अगर श्रीमान् और गरीब के बीच की दीवाल इसी प्रकार चौडी बनी रही तो वह दिन दूर नही जब 'वोल्शेविज्म' आ जायगा । बनेडा मे पूज्य श्रीलालजी महाराज ने कहा था कि गरीबो पर दया करो । उनकी उपेक्षा मत करो । ऐसा न किया तो वोल्शेविज्म आ धमकेगा । उस दशा मे आप श्रीमत कहलाने वालो को संकट मे पडना पड़ेगा। गरीब आपसे प्रश्न करेंगे– यह धन कहा से लाये हो ? तुम्हारी तिजोरियो में जो धन भरा है वह हम गरीबों से ही तुम्हारे पास पहुंचा है । वस हो गया । अब हम गरीब और तुम श्रीमत नही रह सकते । हम सब समान होकर ही रहेगे । इस प्रकार आज जिन गरीबों की उपेक्षा की जा रही है, वही गरीब आपकी श्रीमताई खत्म कर देंगे । इसके विपरीत अगर आप श्रीमताई के ढोग मे न पडकर गरीवो की रक्षा करेंगे तो गरीव अपने प्राण देकर भी आपकी रक्षा करेंगे ।

इसलिए मैं कहता हूं कि गरीवो की सहायता के लिए खादी को अपनाना सीखो । गरीबी की रक्षा करने पर ही आपकी श्रीमताई टिक सकती है । अतएव अपनी भलाई के उद्देश्य से भी आपको गरीवो की भलाई करनी चाहिए । मेरी इच्छा है कि आपको सद्‌बुद्धि प्राप्त हो और

आप परमात्मा की शरण में जायें, जिससे आपकी आत्मा का कल्याण हो तथास्तु ।

गांधी जयन्ती
२-१०-३७
जामनगर

१ : अन्त्यजोद्धार और जैनधर्म

ठक्कर बापा अन्त्यजोद्धार का जो कार्य कर रहे हैं वह जैनधर्म के सिद्धान्तों से प्रतिकूल नही है बल्कि जैन-धर्म के अनुकूल है। उत्तराध्ययन सूत्र मे कहा है

सोवागकुल संभूओ गुणुत्तरधरो मुणी।
हरिएसबलो णाम आसी भिक्खू जिइन्दिओ '।

भगवान् महावीर ने कहा है कि चांडालकुल मे उत्पन्न, उत्तम गुणो को धारण करने वाले, जितेन्द्रिय हरिकेश बल नामक मुनि हुए हैं।

इस गाथा से स्पष्ट है कि जैन शास्त्र के अनुसार चाडाल भी जैनधर्म मे दीक्षित हो सकते हैं और वे उत्तम गुणो के धारक और जितेन्द्रिय मुनि भी हो सकते हैं। इस प्रकार जैनधर्म के समीप मनुष्यमात्र समान है। जैनधर्म जाति-पाति का कोई भी अनुचित पक्षपात नही करता। जैनधर्म की शीतल छाया मे प्रत्येक मनुष्य को शान्तिलाभ करने का अधिकार है, चाहे वह नीच समझे जाने वाले कुल मे उत्पन्न हुआ हो, चाहे उच्च माने जाने वाले कुल मे। वास्तव मे कोई मनुष्य ऐसा हो ही नही सकता, जिससे घृणा की जाये या जिसे छूने से छूत लग जाये।

भारत का यह दुर्भाग्य है कि यहां के लोग अपने

कुछ भाइयो से ऐसा परहेज करते हैं कि उनके छू जाने मात्र से अपने आपको अपवित्र मानने लगते हैं। अर्थात् वे अपने भाई को भी नही छूना चाहते। मगर अछूत कहलाने वाला व्यक्ति क्या समाज का अग नही है? जैसे शरीर का एक अग दूसरे अग का सहायक है, उसी प्रकार अन्त्यज भी समाज के सहायक है। सिर चरण का सहायक और चरण सिर का सहायक है। मस्तक ऊँचा माना जाता है मगर चरण की सहायता उसके लिए भी अपेक्षित है। इसी दृष्टि को सामने रखकर महापुरुष ने चरणस्पर्श करने का विधान किया है, शिर.स्पर्श का विधान, नही किया है। क्योकि भले ही सिर ऊचा हो लेकिन उसकी स्थिति तो पैरो पर ही है। हरिजन ईश्वर के चरण है। अतः हरिजनो से घृणा करना ईश्वर को भूलना है और देश को डुबाना है। गनीमत है कि भारत अब करीब अढाई हजार वर्ष बाद फिर इस दिशा मे चेता है और वह हरिजनो का महत्व जानने लगा है। प्रायः यह माना जाता है कि जब बड़े-बड़े रोग मिट जाते है तो छोटे रोगो से क्या डरना! इस विचार से कभी-कभी छोटे रोगो की उपेक्षा कर दी जाती है और वे बने रहते हैं। लेकिन हरिजनों के प्रश्न की उपेक्षा करना ठीक नही है।

जैनधर्म के चरम तीर्थंकर भगवान् महावीर ने भारतवर्ष मे महान् क्रान्ति की थी। उनकी क्रान्ति का क्षेत्र सकीर्ण नही था। सिर्फ धार्मिक क्षेत्र मे ही नही वरन् जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उन्होने क्रान्ति की थी। जाति-पाति के आधार पर उच्चता और नीचता की कल्पना के

विरुद्ध उन्होने उपदेश दिया था और जातिगत अधिकारों का निषेध किया था। मगर भगवान् महावीर का अनुयायो जैनसघ अपनी मौलिक और वास्तविक मान्यताओं से हटता गया और अपने बहुसख्यक पडोसियो से प्रभावित होता गया। धीरे-धीरे ऐसा समय आ गया कि उसकी मान्यता सिर्फ शास्त्रो मे रह गई और उसका व्यवहार वैसा ही बन गया जैसा कि सर्वसाधारण बहुसख्यक जनता का था। लेकिन अब जैनसमाज भी हरिजनो के विषय मे सचेत हुआ है। जैनसमाज को सोचना चाहिए कि हरिकेशी मुनि चाण्डाल कुल मे उत्पन्न होकर भी अनुत्तर धर्म का पालन करने वाले हुए हैं। ऐसा स्वय भगवान् ने कहा है। इस प्रकार चाण्डाल कुल से किसी प्रकार का परहेज नही किया गया है। फिर आप इतना परहेज क्यो करते हैं ? जो लोग आपको सेवा कर रहे हैं उन्हे आप क्यो भूल रहे हैं ? उनके प्रति जघन्य व्यवहार क्यो करते हैं ? जब चाण्डाल कुल मे उत्पन्न होने वाले अनुत्तर धर्म का पालन कर सकते हैं तब और क्या कमी रह गई जिसके कारण उनसे घृणा की जाती है ? जैनसमाज मे छूतछात का भाव मौलिक नही है। यह दूसरो के ससर्ग से और कुछ-कुछ अज्ञान के कारण आ गया है। किसी भी जैनशास्त्र मे ऐसा उल्लेख नही मिल सकता कि अमुक जाति के मनुष्य को छू लेने से कोई भ्रष्ट हो जाता है।

इस प्रसग पर कोई हरिजनो मे रही हुई खराबियो की बात कह सकता है। मैं स्वीकार करता हू कि उनमे कई बुराइयां भी पाई जाती हैं। मगर ससार मे कौन-सी ऐसी जाति है जो दूध की धुली हो ? किस जाति मे

अच्छाई व बुराई नही पाई जाती ? इसके अतिरिक्त हरिजनो की बुराइयो के सबध मे सवर्ण लोग भी उत्तरदायी हैं। यह नियम है कि जिस चीज की सारसभाल नही की जाती, वह बिगड जाती है। आपने हरिजनो की सभाल नही की ! उनकी ओर आपकी उपेक्षा रही। इस कारण उनमे खराबी आ गई। आप उनका सुधार कर सकते हैं। इसके बदले उनसे घृणा करना और उन्हे अछूत मानना उचित नही है। औरों के बिना तो कदाचित् काम चल सकता है लेकिन जिन्हे आप भगी कहते हैं और घृणा करते हैं, उनके बिना एक दिन भी काम चलना कठिन हो जाता है। उदाहरणार्थ, अगर कचहरी और कालेज में कुछ दिन छुट्टी हो जाये तो कोई हानि नही होगी—आपका जीवन व्यवहार ज्यों का त्यो चलता रहेगा, लेकिन भगी अगर एक दिन के लिए तातील कर दें और स्वच्छता न करें तो सारे समाज को कठिनाई मे पडना होगा।

जैनधर्म कहता है कि चाण्डाल कुल मे उत्पन्न व्यक्ति भी मुनि हो सकता है और मुनि होने पर वह महान् से महान् वस्तु का उपदेश ब्राह्मण तक को दे सकता है। ब्राह्मणो ने हरिकेशी मुनि से कहा था—आप यज्ञ क्यों नहीं करते ? इस प्रश्न के उत्तर मे हरिकेशी मुनि ने कहा—हम मुनि यज्ञ करते ही हैं। उन्होने कहा—

> सुसंबुडा पंचहि संवरेहिं इह जीवियं अणवकखमाणा।
> वोसट्टकाय सुचइत्तदेह महाजयं जयइ जन्नसिट्ठं ॥

सच्चा त्यागी महामुनि ही सच्चा यज्ञ कर सकता है।

इस प्रकार कहकर उन्होने ब्राह्मणो को भी सच्चे यज्ञ का उपदेश दिया है।

यज्ञ का अर्थ आग में घी होमना ही नही है। वास्तविक यज्ञ तो वही है जिसका उपदेश हरिकेशी मुनि ने दिया है। आग में घी होमना आदि तो यज्ञ के नाम पर घोटाला चला था और जब यह घोटाला चला था तभीहरिकेशी मुनि ने ब्राह्मणो को सच्चे यज्ञ का उपदेश दिया था। गीता में भी कहा है—

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथाऽपरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः सशितव्रताः ॥

गीता में कहा है कि अगर तुम्हारे पास द्रव्य है तो द्रव्य का यज्ञ करो। अर्थात् द्रव्य को 'इदम् न मम' कहकर त्याग दो। द्रव्य न हो तो तपयज्ञ करो तप करके उसे अपने लिए न रखो, किन्तु 'इदम् न मम' कहकर उसका भी यज्ञ कर दो। अगर तप को अपने लिए रखोगे तो तपोमद हो जायेगा और उससे आत्मा का पतन ही होगा। अगर तप नही है और योग है तो योग का यज्ञ करो। अगर योग को अपने लिए रखोगे तो लोगो को चमत्कार दिखलाने मे लग जाओगे, जिससे गिरोगे ही, उठोगे नही। अगर स्वाध्याय करते हो तो उसका भी यज्ञ कर दो। अगर तुम्हारे पास ज्ञान है तो ज्ञान का भी यज्ञ कर दो। स्वाध्याय और ज्ञान का अभिमान मत करो। ससार के कल्याण मे इन सब को होम दो।

हरिकेशी मुनि कहते हैं कि यति लोग ऐसा ही यज्ञ

करते हैं। आग में घी होमने का नाम यज्ञ नही है। इस प्रकार चाण्डाल कुल में उत्पन्न व्यक्ति भी महान् तत्त्व का उपदेश दे सकता है। जैनधर्म उनके प्रति किसी प्रकार का भेदभाव नही करता।

प्रश्न किया जा सकता है कि शास्त्र में नीच गोत्र की बात आई है। फिर छुआछूत जैनशास्त्र से सगत क्यो न मानी जाये ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि शास्त्र में कही भी नीच गोत्र वाले को अछूत नही बतलाया। जैन-धर्म का तत्त्वविवेचन सिर्फ मनुष्य समाज को लक्ष्य करके नही है। जैनशास्त्रो में वनस्पतिकाय तक के जीवो की चर्चा की जाती है। शास्त्र के अनुसार सभी पशु नीच गोत्र कर्म के उदय वाले हैं। क्या कोई उन्हे अछूत समझता है ? लोग गाय-भैस आदि नीच गोत्र वाले पशुओ का दूध पीने मे सकोच नही करते। फिर नीच गोत्र की कल्पना करके किसी मनुष्य को अछूत कसे कहा जा सकता है ? तात्पर्य यह है कि नीच गोत्र और अस्पृश्यता का कोई अविनाभाव सबध नही है।

तात्पर्य यह है कि ठक्कर वापा हरिजनों के लिए जो कार्य कर रहे हैं, वह कार्य जैनधर्म से प्रतिकूल नही है। ठक्कर वापा इसके लिए जो श्रम उठा रहे हैं वह प्रशसनीय है। जैन समाज इसमे अपना सहयोग जितना ज्यादा देगा, वह उतनी-ही अपने धर्म की सेवा करेगा। नेहरू परिवार ने भी देश के लिए बहुत त्याग किया है। एक सम्पन्न परिवार का इस प्रकार सादगी से जीवन विताना आदर्श

के अनुरूप ही है।×

४-१०-३७
जामनगर

× श्री अमृतलाल ठक्कर और श्रीमती राजेश्वरी नेहरू के आगमन के अवसर पर दिया हुआ पूज्यश्री का संक्षिप्त भाषण।

१० : ठक्कर बापा का वक्तव्य

श्री जवाहरलालजी महाराज का नाम बहुत दिनो से सुना करता था। महात्मा गाँधी ने भी आपका उपदेश सुनने की इच्छा दर्शायी थी! इसी से जाना जा सकता है कि आपका उपदेश कितना बोधप्रद होगा। आप खादी को अपनाने और हरिजनों का उद्धार करने के उपदेश भी सुन्दर रीति से दिया करते हैं। आपका उपदेश जितना भी माना जाये, कम ही है। हरिजनसेवा का कार्य पराया नही है। वे दूसरे नहीं हैं किन्तु अपने घर के ही हैं। अपने घर के किसी आदमी को हलका या नीच कहकर अलग कर देना अनुचित है। वे तो आपकी सेवा करें और आप उनको छिटकावें, यह भी अनुचित है। इसलिए हरिजनो को छिटकाना नही चाहिए। हरिजन किस प्रकार एकनिष्ठा से सेवा करते हैं, इसको बताने के लिए मैं आप लोगों के सामने एक उदाहरण रखता हूं। पोरबदर मे मैं नौकर था, तब की बात मुझे मालूम है कि एक जैन कुटुम्ब जब कही बाहर जाता था तब वह अपने घर की और तिजोरी आदि की चाबिया एक भगी को दे जाया

पूज्य श्री के भाषण के पश्चात् श्री ठक्कर बापा द्वारा दिया गया वक्तव्य।

करता था। उस पर यह कैसा विश्वास था? और इस विश्वास का कारण यही है कि हरिजन लोग एकनिष्ठा से सेवा करते हैं। इसलिए भ्रातृभाव रखकर उन्हें अपना मानना चाहिए और उन्हें धर्म की शिक्षा देनी चाहिए। बस, इतना ही कहकर मैं बैठने की इजाजत चाहता हूं।

११ : कौन जतन भ्रम भागे ?

प्रणमू वासुपूज्य जिननायक सदा सहायक तू मेरो ।

यह भगवान् वासुपूज्य की प्रार्थना है । इस प्रार्थना मे यह आशय दिखलाया गया है कि ससारी जीव जो दु ख या विघ्न भोगते है, उन्हे निष्कारण नही मानना चाहिए किन्तु यह मानना चाहिए कि वे दुःख और विघ्न सकारण ही हैं । बिना कारण के कोई कार्य नही होता है । घडा तभी बनता है जब मिट्टी उपादानकारण और चाक आदि निमित्तकारण होते हैं । इस प्रकार घडा मिट्टी के होने पर ही बनता है लेकिन घडा बन जाने पर भी मिट्टी में से मिट्टी के सस्कार नही जाते । मिट्टी में घडा बनने के जो सस्कार है, वही सस्कार मिट्टी को घड़े के रूप मे परिणत करते हैं ।

जो वस्तु सकारण है—किसी कारण से जिसकी उत्पत्ति हुई है वह मिटने के कारण मिलने पर मिट भी जाती है । जब दु.ख सकारण हैं तो उनका भी विनाश हो सकता है ।

दु खो का विनाश किस प्रकार हो सकता है ? इस विपय मे ज्ञानीजनों का कथन है कि ससार मे जो भी आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक दु ख भोगे जा रहे हैं, वे सब परमात्मा की प्रार्थना करने पर नष्ट हो

सकते हैं। इन दु:खों का विनाश करने के लिए परमात्मा से प्रार्थना करनी चाहिए कि—'हे प्रभो! मेरी बुद्धि मे ऐसी प्रेरणा, ऐसी जागृति हो कि मैं यथार्थ तत्त्व को जानने लगूं।' इस प्रकार सच्चे अन्तःकरण से परमात्मा की प्रार्थना करने से बुद्धि मे ऐसी शक्ति आ जायेगी कि वह यथार्थ तत्त्व को जान सकेगी और जब बुद्धि यथार्थ तत्त्व को जानने लगेगी तब सभी प्रकार के दुःख और ताप मिट जाएंगे।

परमात्मा की प्रार्थना मे कितनी और कैसी शक्ति है तथा प्रार्थना करने से किस प्रकार दु:खों का विनाश होता है, इस विषय मे इस प्रार्थना में कहा गया है—

खलदल प्रबल दुष्ट अति दारुण जो चौतरफ करे घेरो,
तदपि कृपा तुम्हारी प्रभुजी अरियन होय प्रगटे चेरो॥

हे प्रभो! तराजू के एक पलडे मे ससार के समस्त दु:ख रखे जायें और दूसरे पलडे मे तेरी कृपा रखी जाये तो तेरी कृपा का पलडा ही भारी होगा। एक पलडे मे ससार के समस्त शत्रुओं को रखा जाये और दूसरे मे तेरी कृपा रखी जाये तो शत्रुओं का पलड़ा ही हल्का रहेगा और तेरी कृपा का पलडा भारी ठहरेगा। तेरी कृपा होने पर शत्रु लोग शत्रुता त्याग कर मित्र बन जाएंगे। उनमे मेरे प्रति शत्रुता ही न रहेगी। प्रभो! कोई शूर पुरुष अपनी शूरता के बल से अपने शत्रुओ को अगर झुका भी ले तो शत्रु अपने शरीर से ही झुकेंगे। शूर पुरुष उनके अन्त करण को नही झुका सकता। लेकिन तेरी कृपा होने पर वे अन्त करण से नम जाएंगे। जिन्हे मैं अपनी भौतिक शक्ति से नमाता हूं वे आज नम भी सकते है किन्तु कल

ऐसा भी अवसर आ सकता है कि मुझको उन्ही के आगे नतमस्तक होना पड़े । इस तरह वह कभी मेरे सामने नमे और कभी मैं उसके सामने नमूँ, यह शृंखला बन जायेगी । लेकिन तेरी कृपा होने पर सदा के लिए शत्रुता का अन्त हो जाता है और वैर की परम्परा नही चलती ।

कहा जा सकता है कि परमात्मा तो वीतराग हैं, अतएव उनकी प्रार्थना करने से दु खों का किस प्रकार विनाश हो सकता है ? इस प्रश्न के उत्तर मे ज्ञानीजन कहते हैं कि परमात्मा को प्रार्थना से बुद्धि यथार्थ तत्त्व को जानने लगेगी और जब बुद्धि यथार्थ तत्त्व को जानने लगेगी, तब किसी प्रकार का दु ख रह ही नही सकता । जो सत्य है वह सक्रिय है, निष्क्रिय नही है और जो निष्क्रिय है वह सत्य नही है । सस्कृत भाषा मे एक श्लोक प्रसिद्ध है—

एष वन्ध्यासुतो याति खपुष्पकृत शेखरः ।
मृगतृष्णाम्भसि स्नात्वा शशशृंग धनुर्धरः ॥

देखो, आकाश के फूलो की माला पहने, खरगोश के सीगो का धनुष धारण किये, मृगतृष्णा के जल मे स्नान करके वह वन्ध्या का पुत्र जा रहा है ।

इस कथन को आप अपने अनुभव से ही गलत कह देंगे । जो वस्तु वास्तव मे है ही नही, उसमे क्रिया किस प्रकार हो सकती है ? वन्ध्या स्त्री के पुत्र हो ही नही सकता तो वह गमन कैसे कर सकता है ? इस प्रकार जो वस्तु सत्य नही है – मिथ्या है उसमें सक्रियता नही रह सकती । जो सत्य है वह सक्रिय ही होती है । न्यायशास्त्र मे तो अर्थक्रिया करना ही वस्तु का लक्षण स्वीकार किया गया है ।

परमात्मा की प्रार्थना सत्य है, इसलिए वह सक्रिय होनी चाहिए। परमात्मा की प्रार्थना सत्य किस प्रकार है और उसमे कैसी शक्ति रही हुई है, यह बताने के लिए इसी प्रार्थना मे कहा गया है -

खलदल प्रवल दुष्ट अति दारुण जो चौतरफ करे घेरो ।
तदपि कृपा तुम्हारी प्रभुजी अरियन होय प्रकटै चेरो ।।

प्रार्थना मे ऐसी शक्ति तो है लेकिन उस शक्ति का पता तभी लगता है जब प्रार्थना सक्रिय हो। मान लीजिये मणि पास होने से अग्नि शान्त हो गई। यद्यपि यह नही दीखता कि मणि ने आग को किस प्रकार शान्त किया है ? फिर भी आग के शान्त हो जाने से यह तो जाना ही जाता है कि मणि मे आग को शान्त करने की शक्ति मौजूद है। इसी प्रकार प्रार्थना मे भी शत्रुओ को मित्र बना देने की शक्ति विद्यमान है। मगर उस शक्ति पर विश्वास हो तभी उसका पता लगता है। वास्तव मे प्रार्थना मे ऐसी शक्ति तो है लेकिन लोगो को उस शक्ति पर भरोसा नही है। अगर आप परमात्मा की प्रार्थना का चमत्कार देखना चाहते हैं तो प्रार्थना में अटल विश्वास उत्पन्न कीजिए। विश्वासपूर्वक अन्तःकरण से प्रार्थना करने पर किसी भी प्रकार का दु.ख या उपद्रव नही हो सकता और अगर प्रार्थना करने पर भी दु ख या उपद्रव हो तो समझना चाहिये कि अभी मेरे अन्त करण मे प्रार्थना पर सम्पूर्ण विश्वास नही हुआ है। परमात्मा की प्रार्थना करने पर किसी भी प्रकार का दुःख नही हो सकता, यह बात सिद्ध करने के लिए अनेकों उदाहरण दिये जा सकते हैं। दूसरो

का उदाहरण देने की अपेक्षा मैं अपना ही उदाहरण उपस्थित करता हू । मुझे जब परमात्मा की प्रार्थना पर पूर्ण श्रद्धा नही थी, किन्तु हृदय में भ्रम था, तब मैं पौने पाच मास तक कष्ट भोगता रहा मुझे वह भ्रम ही सताता रहा । लेकिन परमात्मा की प्राथना पर पूर्ण विश्वास होने के पश्चात् वह वहम मिट गया और किसी प्रकार का भय नही रहा । अतएव परमात्मा की सक्रिय उपासना करो । विश्वास रखो, परमात्मा की सक्रिय प्रार्थना करने पर किसी भी प्रकार का दु ख शेष नही रहेगा ।

जिस बड के वृक्ष के नीचे हजारो आदमी बैठ सकते हैं और जिसे हाथी भी नही उखाड सकता, वह बड़ का वृक्ष एक साथ ही तैयार नही हो जाता है। अर्थात् चुटकी मारते ही उसका विस्तार नही हो जाता। वह उत्पन्न होता है बीज से, मगर धीरे-धीरे उगता है, बढता है, फैलता है और विस्तृत होता है। क्या इसी कारण यह कहा जा सकता है कि बट के बीज मे वृक्ष नही छिपा है ? बीज मे वृक्ष है तो अवश्य किन्तु उसके तैयार होने के लिए समय की आवश्यकता है। अलबत्ता धैर्य रखना चाहिए। इसी प्रकार परमात्मा की प्रार्थना मे जो शक्ति रही हुई है, वह भी सहसा दिखाई नही देती। उसे प्राप्त करने के लिए भी धैर्य की आवश्यकता है ।

कोई कह सकता है—अमुक को परमात्मा की प्रार्थना का फल तत्काल मिल गया और हमे प्रार्थना करते-करते वर्षों हो गये, फिर भी फल नही मिला। इसका कारण क्या है ?

इस प्रश्न का उत्तर ज्ञानी यो देते हैं कि बड का वडा वृक्ष देखकर आप यह मानते हैं कि इस वृक्ष को लगे अधिक काल हो गया है, इसी से यह इतना बडा हो गया है। इसी प्रकार छोटे वृक्ष को देखकर यह मानते हैं कि अभी इसमे होने वाली क्रिया के लिए काल बाकी है। यही बात परमात्मा की प्रार्थना के विषय मे भी समझना चाहिए कि परमात्मा की प्राथना से हमे शक्ति नही मिल रही है तो इसका कारण यही है कि अभी क्रिया करने का काल बाकी है। अतएव निराश होने की आवश्यकता नही बल्कि अधिक तत्परता के साथ क्रिया करते जाना चाहिए और काललब्धि का सहारा लेना चाहिए। जिस प्रकार काल-लब्धि का सहारा लेकर क्रिया करते जाने पर वड का छोटा वृक्ष भी वडा हो जाता है, उसी प्रकार धैर्य रखकर परमात्मा की प्रार्थना करते रहने से क्रिया का परिपाक होने पर फल की प्राप्ति होगी ही। निराश मत होओ; क्रिया किये जाओ और सावद्य योग से वचते रहो। सावद्य योग परमात्मा की प्रार्थना के फल को कलुषित कर देता है।

सावद्य योग किसे समझना चाहिए ? इस विषय में कहा गया है—

> कम्ममवज्ज ज गरहिय ति कोहाइणो व चत्तारि।
> सह तेहि जो उ जोगो पच्चक्खाण भवइ तस्स॥

इस गाथा मे सावद्य योग की व्याख्या की गई है। इसका आशय यह है कि निन्दनीय कर्म को सावद्य कहते हैं अथवा क्रोध, मान, माया और लोभ को भी सावद्य योग कहते हैं। क्योकि समस्त निन्दनीय कर्म क्रोध आदि के

अधीन होकर ही किये जाते हैं। क्रोध आदि निन्दनीय कर्म के कारण हैं। अतएव कारण में कार्य का उपचार करके क्रोध आदि को भी सावद्य कर्म कहा है। ऐसे सावद्य के साथ किये जाने वाले व्यापार को सावद्य योग कहते। उस सावद्य योग का विरोध करना सावद्य योग का प्रत्याख्यान कहलाता है।

गाथा मे प्रयुक्त हुए 'सावज्ज' शब्द का अर्थ 'सावर्ज्य' भी होता है। और 'सावद्य' भी होता है। जो कर्म पाप-युक्त होते हैं वे 'सावद्य' कहलाते हैं और जो कार्य गर्हित या निन्दित होते हैं वे 'सावर्ज्य' कहे जाते हैं। आर्य किसे कहते हैं, यह बतलाने के लिए मैंने कहा था—

आरात् सकल हेय धर्मेभ्य इति--आर्यः।

अर्थात् जो समस्त पाप कर्मों का त्याग करता है वह आर्य कहलाता है। जो आर्यों द्वारा त्यागे गये या निन्दित कार्य हैं, वे सावद्य हैं। श्रेष्ठ लोग निन्दित कार्य नही करते किन्तु श्रेष्ठ कर्म ही करते हैं। जिन कार्यों से अपना और ससार का भला हो वे कार्य श्रेष्ठ हैं और जिनसे दोनो का अहित होता है वे निन्दित कर्म हैं। कल्पना करो कि दुनिया के सब लोग जुआ खेलने लगे तो क्या दुनिया के लोगो को हानि नही होगी? प्रकट रूप से तो जुआ मे थोड़ा आरभ दीखता है, लेकिन जुआ खेलना वास्तव मे दुनिया के लोगों के लिए अहितकर है। अतएव शास्त्र मे इसे महाप्रमाद कहा है। इसी प्रकार ससार के सब मनुष्य चोरी करने लगे तो ससार का काम कैसे चल सकता है? ऐसा होने पर संसार में दुःख ही दु ख छा आयेगा। इसलिए ऐसे

कार्यों को निन्दित कर्म माना गया है। इसी प्रकार के कार्यों को सावर्ज्य कर्म भी कहते हैं।

ससार मे जितने भी पाप होते है, क्रोव, मान, माया और लोभ से होते हैं। इसीलिए इन कारणो मे कार्य का उपचार करके इन्हे भी सावद्य कर्म माना गया है और इन कारणो के अधीन होकर किये गये कार्य भी सावद्य हैं।

आज पिछली रात मे, एक वात मेरे ध्यान मे आई। वह बात मैं आप लोगो के सामने प्रकट करता हूं, क्योकि आपका और मेरा आत्मा समान ही है और जो वस्तु मेरी आत्मा के लिए लाभप्रद हो सकती है, वही आपकी आत्मा के लिए भी लाभप्रद हो सकती है। संभव है उस वात को मेरी आत्मा न अपना सके और आपकी आत्मा अपना ले। यह विचार कर वह वात मैं आपके समक्ष कहता हूं। भक्तो के शव्दो मे ही वह वात कहता हूं—

हे प्रभु ! कौन जतन भ्रम भागै।
देखत सुनत विचारत यह मन,
निज स्वभाव नही त्यागै॥ हे प्रभु० ॥

हे प्रभो ! मेरे मन का स्वभाव किस प्रकार वदला जा सकता है ? वह सभी कुछ देखता है, सुनता है, विचारता है, लेकिन अपना स्वभाव नही छोड़ता। मैंने वहुत ग्रन्थ देखे, वहुत सत्सग किया, वहुत भक्ति, ज्ञान, वैराग्य आदि किया लेकिन मेरे मन का स्वभाव तो यही है कि या तो मेरी प्रशसा हो या मुझे कुछ मिले ! भले ही मैं कभी किसी से वाहरी वस्तु न मागूँ, लेकिन यह लालसा तो मेरे मन में वनी ही रहती है कि लोग मुझे भला कहे।

बल्कि मैंने जो कुछ किया है और जो कुछ कहता हूं, वह सब इसलिए कहता हूं कि लोग मुझे भला कहे। प्रभो ! मेरे मन का यह भ्रम कैसे मिट सकता है ?

यह भक्तो का कथन है। भक्त जो कुछ कहते हैं उसके लिए अपने अन्तरात्मा से पूछो कि वह आपके विषय मे भी सत्य है या नही ? आप धर्मक्रिया किसलिए करते हैं ? किसी प्रकार की प्राप्ति के लिए धर्मक्रिया करते हैं या निर्जरा के लिए ? यह बात दूसरे की आत्मा के लिए आप नही जान सकते, मगर अपनी आत्मा के लिए तो जान ही सकते हैं। दूसरे की आत्मा तो अनुमान से ही जानी जाती है किन्तु स्वय की आत्मा को तो प्रत्यक्ष प्रमाण से ही जानते हो। अपना आपा आपसे छिपा हुआ नही है। अतएव अपनी आत्मा से पूछो कि–हे आत्मा ! तू धर्मक्रिया किस उद्देश्य से करती है ? धमकरणी के पीछे अगर किसी प्रकार की लालसा लगी हुई है तो समझ लो कि अभी आप सच्ची धर्मकरणी से दूर हैं। अतएव किसी प्रकार की लालसा से धर्मक्रिया मत करो, किन्तु कर्मों की निर्जरा के लिए करो और निन्दित कर्म से बचते रहो।

किस प्रकार निन्दित कर्म से बचना और अनिन्दित कर्म करना चाहिए, यह बात समझने के लिए महाभारत का एक उदाहरण लीजिए।

विजय प्राप्त करने के पश्चात् महाराजा युधिष्ठिर भीष्म के पास गये। भीष्म ने उनसे कहा—'महाराज युधिष्ठिर ! आइए।'

युधिष्ठिर शर्मिन्दा होकर बोले—आप मुझे महाराज न कहिए, पौत्र ही कहिए ।

भीष्म—जिस पद को प्राप्त करने के लिए अठारह अक्षौहिणी सेना का सहार हुआ है, जिस पद के लिए अनगिनत स्त्रिया विधवा हुई है और अनेक बालक अनाथ हो गये हैं तथा जिस पद के लिए कुल का सहार हुआ है, वह पद प्राप्त करने के पश्चात् आपको 'महाराज' क्यो न कहा जाये ?

युधिष्ठिर—पितामह, मैं इस पाप के दबाव से ही आपके पास आया हू । मुझे जो राजमुकुट प्राप्त हुआ है, उसमे शूल ही शूल जान पडते हैं । वह मुझे ऐसा चुभता है जैसे शूलो का बना हुआ हो । मैंने महल की अटारी पर चढकर देखा तो राजमुकुट और भी अधिक सुइयो से भरा हुआ जान पडा । जो मेदिनी वीरों से भरी थी, आज वह सुनसान दीख पड़ती है । यह देखकर सिर का मुकुट हृदय मे शूल-सा चुभने लगा । मैं यही सोच रहा हू कि इस मुकुट के पाने के लिए कितना पाप हुआ है और कितना सावद्य योग करना पडा है ?

युधिष्ठिर के कथन पर से आप अपने सबध में विचार कीजिए । आपके सिर पर जो पगडी है, उसके लिए किस-किस तरह के पाप होते हैं ? अपने शरीर का रक्त-मास बढाने के लिए दूसरो को किस प्रकार के दुःख दिये जाते हैं ?

युधिष्ठिर का कथन सुनकर भीष्म पितामह ने सोचा—युधिष्ठिर घबरा गया है । इस समय इसे धैर्य देने की

आवश्यकता है। इसका चित्त इतना कोमल और धर्मभीरु है कि धर्मभावना का विचार होने पर यह राजमहल त्याग देगा। इस प्रकार विचार कर पितामह ने कहा—अगर तुम महाराज युधिष्ठिर कहे जाने में सकोच करते हो तो अब से मैं बेटा युधिष्ठिर कहूंगा।

भीष्म पितामह के मुँह से अपने लिए बेटा शब्द सुनकर युधिष्ठिर अत्यन्त प्रसन्न हुए। वह बालक की तरह नम्र होकर पितामह के समीप जा बैठे। इसके अनन्तर उनका हाथ अपने सिर पर रखकर कहने लगे—पितामह, राजमुकुट मुझे तो शूल की तरह चुभ रहा है, कृपा कर मुझे ऐसा उपदेश दीजिए जिससे मैं शान्तिलाभ कर सकूँ।

भीष्म धर्मशास्त्र के ज्ञाता थे। जैनशास्त्र भी यही कहते हैं और महाभारत भी। वे पूर्ण ब्रह्मचारी के रूप मे प्रसिद्ध हैं। जैनशास्त्र के अनुसार भी उन्होने अविवाहित जीवन ही बिताया था। अतएव वे सारे जगत् के पितामह बनने के योग्य ही थे।

भीष्म कहने लगे—बेटा युधिष्ठिर ! तुम किसी प्रकार का खेद मत करो। अलबत्ता यह सोचो कि विजय के लिए तुम्हे जो सहायता मिली, वह किस प्रकार मिली है ? दुर्योधन के पाप से ही तुम्हें वह सहायता मिली थी। दुर्योधन का पाप फूट निकला था और इस कारण लोग समझने लगे थे कि दुर्योधन बड़ा पापी है जो धर्मनिष्ठ पाण्डवों को इस प्रकार कष्ट दे रहा है। यह सोचकर लोग स्वयं ही अपना सिर कटाने के लिए तैयार होकर तुम्हारी सहायता के लिए आये थे। इस प्रकार दुर्योधन के पाप से ही तुम्हे सहायता

मिली था। इसी से तुम विजयी हुए हो। दुर्योधन का पाप तुम्हारी विजय और उसके विनाश का कारण बना है। ऐसी दशा में तुम्हें किसी प्रकार का खेद नही करना चाहिए।

युधिष्ठिर ने कहा– पितामह, यह तो ठीक है। लेकिन युद्ध के कारण जो वैर बध गया है, वह तो मेरे सिर पर ही रहा न ! जिन लोगो के घर वाले मारे गये हैं, उनका वैर मेरे और दुर्योधन के प्रति बध गया है। दुर्योधन तो मर गया है और मरे हुए से वैर नही भजाया जाता। वैर का बदला तो जीते हुए से ही लिया जाता है। अतएव दोनो पक्ष के लोग मुझे ही वैरी समझगे। वे यही मानेंगे कि हमारे पिता, पुत्र, भाई या पति की मृत्यु का कारण यही युधिष्ठिर है। यह वैर की स्मृति मुझे कष्ट पहुचा रही है और इसी कारण यह मुकुट मुझे कांटो की तरह चुभता है।

भीष्म पितामह—ठीक है, पर इस वैर को तुम अपनी विशिष्ट वृत्ति के द्वारा शान्त कर डालो। ऐसा करोगे तभी तो तुम राजा हो।

युधिष्ठिर—पितामह, इसीलिए मैं आपके पास आया हू। इस सम्बन्ध मे आप मुझे उचित उपदेश दीजिए। मैं जानना चाहता हू कि जो वैर वध गया है वह क्या मिटाया जा सकता है ? किस प्रकार उसका शमन किया जा सकता है ?

भीष्म – ससार मे ऐसी कोई आग नही है जो सुलगे और बुझे नही। इसी प्रकार जव वैर वधता है तो मिट भी सकता है। लेकिन दूसरे के वैर को शान्त करने के

लिए पहले अपने हृदय को शान्त करना चाहिए। उदाहरणार्थ—किसी राजा ने तुम्हारी सेना को या तुम्हारे किसी सबन्धी को मारा होगा परन्तु उसकी स्त्री या उसके बालकों ने तो तुम्हारा कुछ नही बिगाडा है! अतएव जहां तक सभव हो, उनकी ऐसी सहायता करना जिससे वे समझने लगें कि युधिष्ठिर हमे सुखी बनाने के लिए ही युद्ध में प्रवृत्त हुआ था। जब तुम उनके हृदय में ऐसी भावना उत्पन्न कर दोगे तो वैर का शमन आप ही हो जायेगा। बँधा हुआ वैर रोने से नही मिट सकता। अगर रोना था तो युद्ध करने से पहले ही रोना था। जब युद्ध आरभ होकर समाप्त भी हो गया और अठारह अक्षौहिणी सेना का सहार हो चुका तब रोने से क्या लाभ है? अब रोना त्यागो और सबको शान्ति पहुचाओ।

तुम कहते हो, जिस भूमि पर वीर ही वीर दिखाई देते थे, आज वह सुनसान दिखाई देती है। लेकिन इस विचार से दु खी होने की क्या आवश्यकता है? बीज शून्य भूमि मे ही बोया जाता है, उस भूमि मे नही बोया जाता जहा काटे और झाड-झखाड़ खड़े हों। जब काटे साफ हो गये और बीज बोने का समय आया है तब तुम रोने बैठे हो? रोना छोडकर इस शून्य भूमि में ऐसा बीज बोओ कि लोग दुर्योधन को भूल जाएं। विचार करो, लोग दुर्योधन को बुरा क्यो कहते थे? इसी कारण कि वह स्वार्थी था और उसको सज्जनता एवं नम्रता को सत्ता खा गई थी। अगर तुमने भी अपनी सज्जनता को सत्ता का ग्रास बन जाने दिया तो तुम मे और दुर्योधन में क्या अन्तर रहा? बल्कि तुम जिस धर्म का प्रदर्शन करते हो

वह ढोंग मात्र रह जायेगा और इस प्रकार तुम दुर्योधन से भी ज्यादा बुरे हो जाओगे। अतएव सत्ता मिलने पर सज्जनता को मत भूलना, उसकी रक्षा करना। स्मरण रखना कि सत्ता जाये तो भले जाये, मगर सज्जनता न जाये।

सिर जावे तो जावे मेरा सत्य धर्म नहीं जावे।
सत्य की खातिर रामचन्द्रजी वन-फल खावे ॥ मेरा० ॥

राम को राज्य मिलने की तैयारी थी लेकिन पिता का सत्य जाने लगा तब राम ने सोचा—जिस राज्य से पिता का सत्य जाता है, उस राज्य को लात मारना ही उचित है। ऐसा सोचकर वे राज्य का परित्याग कर वन को चल दिये। राम राजपुत्र थे और जन्म से सुखों में ही पले थे। फिर भी सत्य की रक्षा के लिए उन्होने वन-फल खाना स्वीकार किया किन्तु अपनी सज्जनता नही जाने दी।

कामदेव और अरणक पर कैसी विपत्ति आई थी? अरणक के जहाज को पिशाचरूपधारी देव उंगली पर उठाकर आकाश में ले गया था। वह कहता था कि तू सत्य को छोड दे अन्यथा मैं तेरे जहाज को यहीं से छोडता हूं। तेरा जहाज समुद्र के अथाह जल मे विलीन हो जायेगा और तुझे प्राणो से भी हाथ धोना पड़ेगा। अरणक जहाज के व्यापार के लिए ही गया था। ऐसी स्थिति में उसे जहाज का प्रिय लगना स्वाभाविक ही था। अरणक सोच सकता था कि 'धर्म छोडा' कह देने मात्र से क्या बिगड़ जाता है! इतना कह देने से अगर जहाज बचता है तो बचा ही लेना चाहिए। मगर नहीं, अरणक ने ऐसा विचार नही किया। वह सोचता था कि मेरी सज्जनता पहले है,

सत्य पहले है और जहाज फिर है। जहाज डूबता हो तो भले डूबे। सत्य का मैं परित्याग नहीं कर सकता। मैं धर्म और अधर्म का अन्तर प्रत्यक्ष देख रहा हूं। फिर धर्म का परित्याग कैसे कर दूं? धर्म न होने के कारण ही यह पिशाच मेरा जहाज डुबा रहा है। जहाज की रक्षा हुई तो धर्म से ही होगी। 'धर्मो रक्षति रक्षितः।'

आपके सिर पर ऐसा संकट तो नहीं आया होगा, फिर भी आप दमड़ी-दमडी के लिए तो असत्य का आश्रय नहीं लेते?

पितामह का उल्लिखित वक्तव्य सुनकर युधिष्ठिर सोचने लगे—मैं तो भागना चाहता था मगर पितामह ने मेरे मस्तक पर और ज्यादा बोझ डाल दिया! मुझे पितामह का परामर्श स्वीकार करना चाहिए और संग्राम में मारे गये लोगों के परिजनों को शान्ति पहुंचाने का प्रयत्न करना चाहिए। इस प्रकार मैं क्रियात्मक सत्य का पालन कर सकूंगा।

सारांश यह है कि सावद्य कार्यों से समझदार व्यक्ति को वैसा ही पश्चात्ताप होता है जैसा युधिष्ठिर को हुआ था। मगर कोरे पश्चात्ताप से क्या लाभ है? जिस कार्य के लिए पश्चात्ताप किया जाता है; उससे आगे के लिए उपरत होना आवश्यक है और इस उपरति के लिए परमात्मा की प्रार्थना सरल और श्रेष्ठ साधन है। अगर आप सावद्य योग से बचकर परमात्मप्रार्थना मे अपना चित्त लगाएंगे, तो आपका कल्याण होगा।

१२ : लघुता-प्रकाश

[पूज्यश्री की जयन्ती के उपलक्ष्य मे अनेक वक्ताओ ने प्रासंगिक भाषण दिये थे । उन सब भाषणों के पश्चात् पूज्यश्री का प्रवचन हुआ । उसी का आशय यहां दिया जा रहा है ।]

आप लोगों ने आज जो कुछ सुनाया है, उस पर विचार करते-करते, यहा बैठे-बैठे मुझे एक विचार आया है। उपनिषद् मे एक वाक्य आया है—

यानि अस्माकं सुचरितानि तानि त्वया पालनीयानि ।

गुरु अपने शिष्य से कहता है—हे शिष्य ! मुझ में जो सुचरित्र हो उसी का तू पालन करना । अगर मुझमे कोई बात प्रपच भरी जान पड़े तो उसे तू ग्रहण मत करना । जिस बात को तेरी आत्मा स्वीकार न करती हो उसे तू मत मानना । तू उसी को अंगीकार कर जो बात अच्छी हो ।

यही बात मैं आप लोगो से कहता हू । आप लोगो ने मेरी प्रशंसा मे जो कुछ कहा है वह मेरे लिए भाररूप है । वास्तव मे मुझे भाषा का भी पूर्ण ज्ञान नही है । गुरु-चरणों के प्रताप से विरासत मे मुझे जो कुछ प्राप्त हुआ है या जो कुछ मैं प्राप्त कर सका हूं वही आप लोगो को सुनाता हूं और उसी के द्वारा सबकी आत्मा को सन्तुष्ट

करने का प्रयत्न करता हूं। उस बात को सुनाने मे मुझसे कोई भूल होती हो और जिसे स्वीकार करना आपकी आत्मा को अनुचित प्रतीत होता हो, उसे आप भले स्वीकार न करें। लेकिन जिस चीज़ को आपकी आत्मा उचित समझे उसे स्वीकार करो।

मैं अपनी उम्र के बासठ वर्ष समाप्त करके त्रेसठवे वर्ष मे प्रवेश कर रहा हू। यद्यपि मेरी इच्छा ऐसी रहती है कि मैं अपनी आत्मा का कल्याण करने में ही निरन्तर लगा रहूं और किसी भी दूसरे प्रपच मे न पड़ूँ, लेकिन कह नही सकता कि ऐसा सुअवसर कब प्राप्त होगा। फिर भी मेरी भावना तो यही बनी रहती है। आप सबने मेरे विषय मे जो कुछ कहा है, उसे सुनकर मेरे चित्त मे किसी प्रकार का अभिमान नही आना चाहिए। मैं यह सोचता हूं कि मुझ में जो गुण बतलाये गये हैं वे गुण अभी पूरी तरह नही आ पाये हैं। उन्हे प्राप्त करने के लिए मुझे प्रयत्न करना चाहिए। मैं परमात्मा से प्रार्थना करता हू कि मुझे सद्बुद्धि प्राप्त हो और सद्भावना प्राप्त करके मैं स्व-पर का कल्याण साधन करूँ। एक कवि ने बड़ी सुन्दर बात कही है उसे आपको सुना देना उचित प्रतीत होता है। कवि कहता है—

> जोई जोई मोतियो चणजे हंस,
> छोळ भयो सिंधु छलक,
> पण बिन्दु मधुर न झलके हस।

अर्थात्—हे हस! तू मोती तो चुगता है पर देख-देखकर चुगना। समुद्र भरा है और छलक रहा है; किन्तु

उसके सब बूंद मधुर नहीं होते और न उसकी प्रत्येक छलक में मोती होते हैं। इस कारण हे हस, तू देख-देख-कर मोती चुगना।

यही बात मैं आप से कहता हूं। आपके समक्ष मैं जो कुछ कहता हू उसे आप विचार करने के बाद ग्रहण करना। मेरा कथन उचित हो तो ग्रहण करना। उचित न हो तो छोड़ देना। मैंने अपने गुरु से जो कुछ प्राप्त किया है, उसका भली-भाति पालन करने में अभी तक मुझे पूर्णता प्राप्त नहीं हुई है। मुझ मे अभी तक बहुत अपूर्णता है। मैं चाहता हू कि मेरी यह अपूर्णता मिट जाये। मैं परमात्मा से भी यही प्रार्थना करता हूं कि मेरी यह इच्छा पूर्ण हो।

जैसे हस मोती चुगता है, उसी प्रकार आप मेरे कथन में से अच्छी-अच्छी बातें चुनकर ग्रहण करें। समुद्र में लहरें बहुत आती हैं पर सभी लहरों में मोती नही आते। लेकिन मोती चुगने वाला हस लहरों मे से मोती चुग ही लेता है। आप भी हंस की भाति विवेकबुद्धि प्राप्त करो और मोती के समान अच्छी वातों को स्वीकार कर लो और शेष का परित्याग कर दो। मैं भी हंस के समान वनना चाहता हूं। जैसे हंस दूध और पानी को पृथक् कर देता है और मोती को ही चुगता है, उसी प्रकार मैं भी अच्छी वातों को ही ग्रहण करना चाहता हूं।

हम साधुओं को मनुष्यों के परिचय मे वहुत आना पड़ता है। हमारा लक्ष्य यही होना चाहिए कि इन मनुष्यों मे से हम मोती जैसे सद्गुणों को ही ग्रहण करें। मोती

करने का प्रयत्न करता हूं। उस बात को सुनाने में मुझसे कोई भूल होती हो और जिसे स्वीकार करना आपकी आत्मा को अनुचित प्रतीत होता हो, उसे आप भले स्वीकार न करें। लेकिन जिस चीज को आपकी आत्मा उचित समझे उसे स्वीकार करो।

मैं अपनी उम्र के बासठ वर्ष समाप्त करके त्रेसठवे वर्ष मे प्रवेश कर रहा हूं। यद्यपि मेरी इच्छा ऐसी रहती है कि मैं अपनी आत्मा का कल्याण करने मे ही निरन्तर लगा रहूं और किसी भी दूसरे प्रपच में न पड़ूं, लेकिन कह नही सकता कि ऐसा सुअवसर कब प्राप्त होगा। फिर भी मेरी भावना तो यही बनी रहती है। आप सबने मेरे विषय मे जो कुछ कहा है, उसे सुनकर मेरे चित्त मे किसी प्रकार का अभिमान नही आना चाहिए। मैं यह सोचता हू कि मुझ मे जो गुण बतलाये गये हैं वे गुण अभी पूरी तरह नही आ पाये हैं। उन्हे प्राप्त करने के लिए मुझे प्रयत्न करना चाहिए। मैं परमात्मा से प्रार्थना करता हूं कि मुझे सद्बुद्धि प्राप्त हो और सद्भावना प्राप्त करके मैं स्व–पर का कल्याण साधन करूं। एक कवि ने बड़ी सुन्दर बात कही है उसे आपको सुना देना उचित प्रतीत होता है। कवि कहता है—

> **जोई जोई मोतियो चणजे हस,**
> **छोळ भयो सिघु छलक,**
> **पण बिन्दु मधुर न झलके हस।**

अर्थात्—हे हस ! तू मोती तो चुगता है पर देख–देखकर चुगना। समुद्र भरा है और छलक रहा है; किन्तु

उसके सब बूंद मधुर नही होते और न उसकी प्रत्येक छलक में मोती होते हैं। इस कारण हे हस, तू देख-देख-कर मोती चुगना।

यही बात मैं आप से कहता हूं। आपके समक्ष मैं जो कुछ कहता हूं, उसे आप विचार करने के बाद ग्रहण करना। मेरा कथन उचित हो तो ग्रहण करना। उचित न हो तो छोड़ देना। मैंने अपने गुरु से जो कुछ प्राप्त किया है, उसका भली-भांति पालन करने मे अभी तक मुझे पूर्णता प्राप्त नही हुई है। मुझ मे अभी तक बहुत अपूर्णता है। मैं चाहता हू कि मेरी यह अपूर्णता मिट जाये। मैं परमात्मा से भी यही प्रार्थना करता हूं कि मेरी यह इच्छा पूर्ण हो।

जैसे हस मोती चुगता है, उसी प्रकार आप मेरे कथन में से अच्छी-अच्छी बातें चुनकर ग्रहण करें। समुद्र में लहरें बहुत आती हैं पर सभी लहरो में मोती नही आते। लेकिन मोती चुगने वाला हस लहरों मे से मोती चुग ही लेता है। आप भी हंस की भांति विवेकबुद्धि प्राप्त करो और मोती के समान अच्छी बातों को स्वीकार कर लो और शेष का परित्याग कर दो। मैं भी हस के समान बनना चाहता हूं। जैसे हंस दूध और पानी को पृथक् कर देता है और मोती को ही चुगता है, उसी प्रकार मैं भी अच्छी बातो को ही ग्रहण करना चाहता हूं।

हम साधुओं को मनुष्यो के परिचय में बहुत आना पडता है। हमारा लक्ष्य यही होना चाहिए कि इन मनुष्यों मे से हम मोती जैसे सद्गुणों को ही ग्रहण करें। मोती

बीनने वाला कभी-कभी फिसल भी जाता है। मैं चाहता हूं कि सद्गुण रूपी मोती बीनते समय मैं कभी फिसल न जाऊँ और अपने पुरुषार्थ के द्वारा गुण-मोतियों को ही ग्रहण करता रहूं। परमात्मा से मेरी प्रार्थना है कि मेरी यह भावना पूर्ण हो !

जामनगर
६-११-३७

बीनने वाला कभी-कभी फिसल भी जाता है। मैं चाहता हूं कि सद्गुण रूपी मोती बीनते समय मैं कभी फिसल न जाऊँ और अपने पुरुषार्थ के द्वारा गुण-मोतियों को ही ग्रहण करता रहूं। परमात्मा से मेरी प्रार्थना है कि मेरी यह भावना पूर्ण हो!

जामनगर

६-११-३७